

मेरी दृष्टि मेरी सृष्टि



मेरी दृष्टि है—हम अपने निर्मल चैतन्य को देखने का प्रयत्न करें। उसमें जो प्रतिबिम्ब होगा, वह वास्तविक होगा।

सर्जन का मूल मंत्र है—सतत जलते रहना, कभी नहीं बुझना। यह है—अप्रमाद का सूत्र। तुम कभी मत बुझो, निरन्तर जलते रहो। वे दीपक प्रिय नहीं होते जो रात को जलते हैं और दो घंटे बाद बुझ जाते हैं। वह दीपक प्रिय होता है जो एक बार जल गया तो जल ही गया। वही ज्योति ज्योति होती है जो अखंड ज्योति के रूप में निरन्तर जलती रहे।

सर्जन का यही मूल मंत्र है। वही सृष्टि प्रिय हो सकती है जो नये-नये उन्मेष पैदा कर सके, उन्हें संभाल सके, उनका संरक्षण और पोषण कर सके।

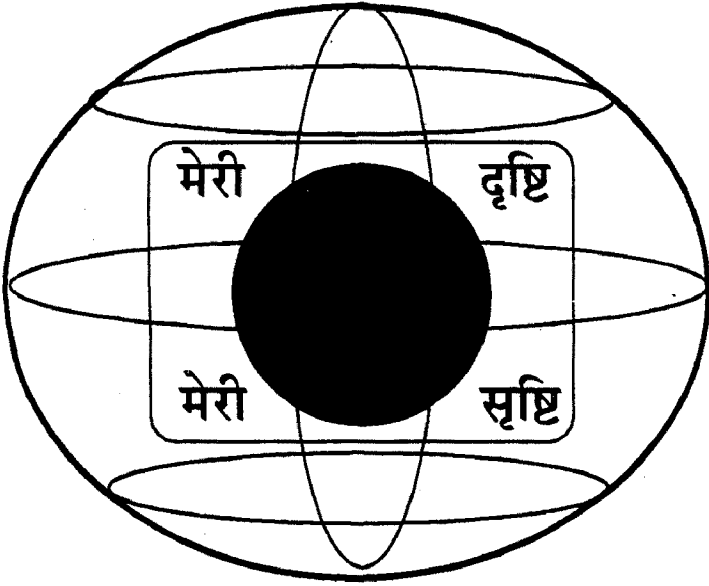
सृष्टि का आदि बिन्दु है आत्मा और चरम बिन्दु है आत्मा। जब तक वह उपलब्ध न हो जाए तब तक पुरुषार्थ चलता रहे, प्रकाश मिलता रहेगा। हाथ-पैर हिलते रहें, प्रकाश मिलता रहेगा। जिस क्षण पुरुषार्थ बन्द हुआ, प्रकाश ढंक जाएगा, सर्जन चुक जाएगा। सर्जन का घटक है पुरुषार्थ।

मैंने इन निबन्धों में दर्शन और सर्जन का विमर्श किया है। उसके अनेक आयाम हैं। पाठक उन आयामों में दोनों का स्पर्श करने का प्रयत्न करे, उसे कुछ आलोक प्राप्त होगा।

मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मेरी दृष्टि मेरी सृष्टि



आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक : मुनि दुलहराज
© : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य : पचास रुपये / संस्करण २००० / मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

MERI DRISHTI MERI SRISHTI : Yuvacharya Mahaprajna

Rs. 50.00

प्रस्तुति

वहां सारी भाषाएं मूक बन जाती है, जहां हृदय का विश्वास बोलता है । जहां हृदय मूक होता है, वहां भाषा मनुष्य का साथ नहीं देती । जहां भाषा हृदय को उठाने का प्रयत्न करती है, वहां व्यक्तित्व विभक्त हो जाता है । अखंड व्यक्तित्व वहां होता है जहां भाषा और हृदय में द्वैत नहीं होता । भाषा और हृदय में अद्वैत वहीं होता है जहां सृष्टि परिमार्जित और सत्योन्मुखी होती है ।

जिसे देखना चाहिए, वहां दृष्टि नहीं जाती । जिसे नहीं देखना चाहिए, वहां देखने का प्रयत्न होता है । यह कैसा विपर्यय ! कांच में मनुष्य अपने आपको ही देखता है । कब किसने कांच की निर्मलता को देखा !

मेरी दृष्टि है—हम अपने निर्मल चैतन्य को देखने का प्रयत्न करें । उसमें जो प्रतिबिम्ब होगा, वह वास्तविक होगा ।

सर्जन का मूल मंत्र है—सतत जलते रहना, कभी नहीं बुझना । यह है—अप्रमाद का सूत्र । तुम कभी मत बुझो, निरंतर जलते रहो । वे दीपक प्रिय नहीं होते जो रात को जलते हैं और दो घंटे बाद बुझ जाते हैं । वह दीपक प्रिय होता है जो एक बार जल गया तो जल ही गया । वही ज्योति ज्योति होती है जो अखंड ज्योति के रूप में निरंतर जलती रहे ।

सर्जन का यही मूल मंत्र है । वही सृष्टि प्रिय हो सकती है जो नए-नए उन्मेष पैदा कर सके, उन्हें संभाल सके, उनका संरक्षण और पोषण कर सके ।

सृष्टि का आदि बिन्दु है आत्मा और चरम बिन्दु है आत्मा । जब तक वह उपलब्ध न हो जाए तब तक पुरुषार्थ चलता रहे । प्रकाश मिलता रहेगा । हाथ-पैर हिलते रहें, प्रकाश मिलता रहेगा । जिस क्षण पुरुषार्थ बन्द हुआ, प्रकाश ढंक जाएगा, सर्जन चुक जाएगा । सर्जन का घटक है पुरुषार्थ ।

मैंने इन निबंधों में दर्शन और सर्जन का विमर्श किया है । उसके अनेक आयाम हैं । पाठक उन आयामों में दोनों का स्पर्श करने का प्रयत्न करे उसे कुछ आलोक प्राप्त होगा ।

बालोतरा

आचार्य महाप्रज्ञ

१-१०-८३

क्रम

१. मंगल सूत्र	९
२. मंगल पाठ	१८
३. समर्पण का सूत्र : चतुर्विंशतिस्तव	२६
४. जिन शासन : १	३५
५. जिन शासन : २	४७
६. जीव : स्वरूप और लक्षण	५४
७. भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का स्थान	५९
८. अनुशासन की समस्या	६३
९. मूल का सिचन	६५
१०. समस्या के समाधान का नया आयाम	६९
११. अधिनायकवाद और स्वतंत्रता	७१
१२. शास्त्रों के व्यापक अर्थ की खोज का दृष्टिकोण	७५
१३. गीता : संदेश और प्रयोग	७८
१४. विपश्यना की अतीत यात्रा	८१
१५. मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि	८५
१६. अतीत का अनावरण	१०४
१७. अहिंसा सार्वभौम की कल्पना	१११
१८. अहिंसक समाज-संरचना कैसे होगी ?	११३
१९. अहिंसा की समस्याएं	१२२
२०. अहिंसा तेजस्वी कैसे हो ?	१२५
२१. संवेदनशीलता : एक अपेक्षा	१२९
२२. नया जन्म लें	१३३
२३. जिज्ञासितं : कथितं	१३६
२४. 'हिन्दु' शब्द की युक्ति कहां ? कैसे ?	१४३
२५. प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. राजा रमन्ना और अनेकान्त दर्शन	१४८
२६. विशोधन की प्रक्रिया : प्रेक्षा ध्यान	१५५

२७. यथार्थ विज्ञान : जीवन विज्ञान	१५९
२८. संस्कार-परिष्कार के सूत्र	१६३
२९. उस संघ को प्रणाम	१६६
३०. मृत्युंजयी आचार्य भिक्षु	१७०
३१. महान् पर्व संवत्सरी	१७३

मंगल सूत्र

'एकाग्रनाद्याऽखिलतत्त्वरूपा,
जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।
तत्राप्यसत्यं त्यज सत्यमङ्गी
कुरु स्वयं स्वीयहिताभिलाषी ॥'

आज मेरे हाथ में 'श्रमणसूत्र' की पुस्तक है। यह एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। यह भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर समग्र जैन समाज के द्वारा मान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के संकलन में हमारे संघ का बहुत बड़ा हाथ है। जिनेन्द्रवर्णी ने इसका प्रारम्भ किया और इसकी सम्पन्नता आचार्य तुलसी के निर्देशानुसार मेरे द्वारा हुई। एक संगीती हुई। उस संगीती में यह ग्रन्थ सबके द्वारा मान्य हुआ और यह जैन धर्म का सर्व-सम्मत-ग्रन्थ है।

विनोबाजी की भावना थी कि जैसे वैदिकों में गीता तथा बौद्धों में धम्मपद है, वैसे ही जैनों में भी एक ग्रन्थ होना चाहिए, जो सर्व-सम्मत हो। उस अवसर पर यह भावना पूरी हुई। यह एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य हुआ। अभी राधाकृष्ण बजाज आए, उन्होंने कहा—'समणसुतं' कई विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत हो चुका है। वे लोग चाहते हैं इसकी व्याख्या लिखें। मैंने कहा—यह तो मेरे लिए संभव नहीं है। अभी इतने काम सामने हैं कि कोई नया काम प्रारम्भ करना संभव नहीं लगता। फिर एक विकल्प सोचा, यह हो सकता है कि प्रवचन में मैं कुछ इस पर व्याख्या करूँ। वह शायद उपयोगी हो जाए। आज से यह क्रम मैं शुरू कर रहा हूँ।

अभी मैंने यतिभोज का श्लोक कहा। यह जिनवाणी के विषय में बहुत मार्मिक श्लोक है। इसका अर्थ है—जिनवाणी एक है। वह सब तत्त्वों का निरूपण करने वाली अनादि वाणी है, फिर भी उसका इतना विस्तार हो गया है कि उसमें बहुत सारी बातें मिल गईं। गंगोत्री का निर्मल जल जहाँ प्रवाहित होता है, बहुत साफ-स्वच्छ होता है, किन्तु विस्तार के साथ-साथ उसमें बहुत सारी बातें मिल जाती हैं। यह एक बहुत बड़ा सत्य है कि सीमा में रहने वाला जितना निर्मल रह

सकता है, विस्तार मैं वह उतना निर्मल नहीं रह सकता। आदमी विस्तार चाहता है, किन्तु इस सचाई को हम अस्वीकार न करें कि विस्तार के साथ-साथ कुछ दूषित तत्त्व भी साथ में मिलते हैं। हर बात में ऐसा होता है, जिन वाणी में भी ऐसा हुआ है। उसमें बहुत सारे तत्त्व मिल गए। अब हमें विवेक की आवश्यकता होगी। विवेक करें। जहां भी कोई दोष आ जाता है, वहां विवेक करना जरूरी होता है। जल फिल्टर किया जाता है, यह विवेक है। विवेक का अर्थ है—जो दो हैं, उनको अलग-अलग कर देना। 'विवेकः पृथगात्मता'—अलग-अलग कर देना है विवेक। प्राचीन काल में कहा जाता था कि हंस में विवेक होता है। यह उक्ति बहुत प्रचलित है—'क्षीर-नीर विवेकः'। यानी हंस में यह विवेक शक्ति होता है वह दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है। वस्तुतः केवल हंस में ही यह अम्लता की शक्ति नहीं होती। नींबू भी यह काम कर सकता है और मछली भी कर सकती है। संस्कृत-साहित्य में एक प्रसंग आता है—

मस्त्यादयोऽपि जानन्ति, क्षीरनीरविवेचनम्।

प्रसिद्धिरत्र हंसस्य, यशः पुण्यैरवाप्यते ॥

“यह क्षीर-नीर का विवेक हंस ही नहीं करता, मछली भी करती है, किन्तु प्रसिद्धि है हंस की। क्योंकि यश तो भाग्य से ही मिलता है।”

इसी सन्दर्भ में एक दूसरा श्लोक है—

मासे मासे समा ज्योत्स्ना, पक्षयोरुभयोरपि।

एकः कृष्णः परः शुक्लः, यशः पुण्यैरवाप्यते ॥

चांद की चांदनी कृष्ण पक्ष में भी होती है और शुक्ल पक्ष में भी होती है। दोनों पक्षों में चांदनी बराबर होती है। फिर एक का नाम कृष्ण पक्ष और एक का नाम शुक्ल पक्ष क्यों? कोई तार्किक कारण मैं नहीं दे सकता, किन्तु यश भाग्य से ही मिलता है। यश मिला, शुक्ल पक्ष बन गया। दूसरे को यश नहीं मिला, कृष्ण पक्ष बन गया। चांदनी दोनों में समान होती है।

विवेक की शक्ति हंस में भी होती है, मछली में भी होती है और नींबू में भी होती है। इसका कारण है—अम्लता। उसमें यह शक्ति है कि वह दूध से पानी को अलग कर देता है। हंस के मुंह में भी अम्लता है, मछली में भी अम्लता है। हम ऐसा विवेक करें। अपनी विवेक-शक्ति को जगाएं, असत्य को छोड़ दें और सत्य को स्वीकार करें। जिन वाणी में जो कुछ बाद में मिल गया उसे छोड़

दें और जो मूल है, उसे स्वीकार करें। आज के रिसर्च करने वाले विद्वानों में एक अच्छी प्रवृत्ति का जन्म हुआ है। वे किसी भी ग्रन्थ को एकदम प्रामाणिक नहीं मानते। वे इस बात का विश्लेषण करते हैं, विवेक करते हैं कि पुराना अंश कितना है और नया अंश कितना है। मौलिक कितना है और बाद में कितना जुड़ा है। काल के प्रवाह में ऐसा हुआ है कि किसी भी ग्रन्थ को मूल ग्रन्थ कहना बड़ा कठिन हो गया। एक श्रद्धालु आदमी के लिए तो अलग बात है। वह तो श्रद्धा से स्वीकार करता है किन्तु अनुसंधान करने वाले व्यक्ति के लिए यह बहुत कठिन है कि किसी पूरे ग्रन्थ को मौलिक मान ले।

जैन आगमों के विषय में जर्मन विद्वानों ने एक प्रयत्न किया। कुछ मानदण्ड निश्चित किए और पूरा विश्लेषण किया कि आगमों में प्राचीन पाठ कितना है और बाद में कितना जोड़ा गया है। उन्होंने अपनी निश्चित पद्धतियां स्थापित की हैं। महाभारत के श्लोक लाख माने जाते हैं, किन्तु प्रारम्भ में उसका नाम था 'जय'। तब उसमें आठ हजार श्लोक थे। फिर 21000 श्लोक बने और उसका नाम हो गया भारत। आज हो गया महाभारत। जुड़ते-जुड़ते, प्रवाह मिलते-मिलते आठ हजार और इक्कीस हजार श्लोक के आज एक लाख से ज्यादा श्लोक बन गए। सब ग्रन्थों में लगभग ऐसा हुआ है। तो हमें आज विवेक करना जरूरी हो जाता है कि मूल क्या है बाद में क्या जुड़ा है। आचार्य ने कहा कि जिस व्यक्ति में सत्य की जिज्ञासा होती है और जो अपनी आत्मा का हित चाहता है, वह व्यक्ति किसी ग्रन्थ के पीछे नहीं जाता, किन्तु उसमें से खोजता है कि सूत्र क्या है ?

'श्रमण सूत्र' जिनवाणी का सूत्र है और यह अनेक ग्रन्थों से संकलित है। यह एक कसौटी के साथ संकलित है कि जिसमें नवदृष्टि से जो सत्य प्रतीत होता है, उसका संकलन है। इसका पहला प्रकरण है—'मंगल सूत्र'। हम कोई भी कार्य करें तो मंगल के साथ करें। आयोजनों का प्रारम्भ भी मंगलगीत से होता है। मंगलाचरण से कार्य शुरू करते हैं, इसीलिए कि हर व्यक्ति सफलता चाहता है। असफलता कोई नहीं चाहता। सबको इष्ट है कि सफल बने। एक व्यक्ति बीज बोता है तो वह चाहता है कि यह बीज सफल बने यानी उगे।

प्रत्येक मनुष्य सफल होना चाहता है, सफल जीवन जीना चाहता है। वह जो कुछ करता है उसमें सफलता चाहता है। सफल होने के लिए वह मंगल भावना करता है, मंगल आकांक्षा करता है और मंगल कार्यारम्भ करता है। सफलता तब संभव है, जब कोई बाधा न हो। निर्विघ्न कार्य सम्पन्न हो जाए, तभी

सफलता मानी जाती है। किसी भी प्रवृत्ति को प्रारम्भ करते समय मनुष्य यही सोचता है कि यह निर्विघ्न सम्पन्न हो।

मंगल बहुत सारे पदार्थ माने गए हैं। अनेक पदार्थों का चुनाव किया गया जो मंगलकारी होते हैं। नारियल, दीप, जल और दूध आदि को मंगल माना गया। दधि और अक्षत को मंगल माना गया। इन सब पदार्थों को मंगल मानते हैं, पर क्यों मानते हैं? पदार्थ वही मंगल होता है जो हमें प्रभावित करता है, हमारे विचार और हमारी चिन्तनधारा को प्रभावित करता है। इसका वैज्ञानिक कारण खोजें तो प्रत्येक पदार्थ रश्मिवत् होता है। हर पदार्थ में से किरणें निकलती हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जिसमें से रश्मियां न निकलती हों। आदमी से निकलती है, इस पुस्तक में से निकलती है और इसी सिद्धान्त के आधार पर फोटोग्राफी का विकास हुआ। रश्मियां तदाकार निकलती हैं और समूचे वायुमंडल में फैल जाती है। इसीलिए टेलीविजन में हजार कोस की दूरी का दृश्य आप देख सकते हैं। एक और विकास हो रहा है कि एक आदमी यहां बैठा है। आदमी चला गया। दो घंटा बाद उसका फोटो लिया जा सकता है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। आदमी चला गया, किन्तु उसकी रश्मियां अभी भी वहां मौजूद हैं और उन रश्मियों के द्वारा उसका फोटो लिया जा सकता है। हाईफ्रिक्वेंसी का कैमरा हो तो फोटो लिया जा सकता है।

जैन आगमों में वर्णित है कि जहां पुरुष बैठा हो, वहां अन्तमुहूर्त तक साध्वी को नहीं बैठना चाहिए और जहां स्त्री बैठी हो, वहां अन्तमुहूर्त तक साधु को नहीं बैठना चाहिए। क्यों? इसलिए कि वह पुरुष तो चला गया, वह स्त्री तो चली गई, किन्तु उसके परमाणु अभी भी वहां मौजूद है। उस स्त्री के बैठने के स्थान पर यदि पुरुष बैठा है तो बहुत संभव है कि पुरुष में उत्तेजना की भावना जाग जाए। जहां पुरुष बैठा हो वहां यदि साध्वी बैठती है, तो बहुत संभव है साध्वी भी प्रभावित हो जाए उन परमाणुओं से। हम स्थूल जगत् के नियमों को जानते हैं। यदि सूक्ष्म जगत् के नियमों को जानने लग जाएं तो सारा संसार इतना विशाल बन जाए कि स्थूल जगत् के नियम उसके सामने व्यर्थ बन जाएं। हम तो स्थूल जगत् के नियमों को मानकर चलते हैं और वे नियम सूक्ष्म जगत् में लागू नहीं होते।

एक ग्रामीण होटल में गया। वह कभी शहर में आया नहीं था। कमरे में बिजली जल रही थी। वह सोया, किन्तु प्रकाश में नींद नहीं आयी। वह उठा

और फूंक मारकर बल्ब को बुझाने का प्रयत्न करने लगा । फूंक मारते-मारते वह थक गया । बिजली बुझी नहीं । फूंक मारने के सिवाय वह दूसरा कोई उपाय जानता नहीं था । दीए को फूंक से ही बुझाया जा सकता है ।

फूंक मारना भी एक नियम है दीए को बुझाने का, किन्तु वह इतना स्थूल नियम है कि केवल दीए पर ही लागू होता है, बिजली पर नहीं । हम एक जगत् के नियमों को जानते हैं, किन्तु हम अनेक जगत् में जीते हैं । दुनिया इतनी विराट् है और जगत् के इतने स्तर हैं कि एक स्तर का नियम दूसरे स्तर पर लागू नहीं होता । स्थूल नियमों को हम जानते हैं, इसीलिए स्थूल पदार्थों का हम सबसे पहले चुनाव करते हैं । हमने चुनाव किया पदार्थों का, पदार्थ मंगल होते हैं । पदार्थ इसलिए मंगल होते हैं कि उनमें से निकलने वाली रश्मियां हमें प्रभावित करती हैं । उन रश्मियों से हम प्रभावित होते हैं ।

पदार्थ का दूसरा लक्षण है—‘चयापचया धर्म.....’ । प्रतिक्षण चय और अपचय होता है । कुछ निकलता है और कुछ जुड़ता है । सूक्ष्म जगत् में यह क्रम तेजी के साथ चल रहा है । हमारे इस शरीर से प्रतिक्षण अनन्त परमाणु निकल रहे हैं और नये परमाणु उसमें आ रहे हैं । यह चमड़ी एक अवरोध है कि बाहर की चीज भीतर में नहीं जा सकती । पानी की बूंद शरीर पर गिरी कि चमड़ी उसे रोक लेगी, वह भीतर नहीं जाने पाएगी । बाहर ही सूख जाएगी । किन्तु यह तो स्थूल पदार्थ के लिए अवरोध है । चमड़ी में से कितनी सूक्ष्म रश्मियां निकलती हैं, आर-पार जाती हैं, कोई बाधा नहीं है । भीत किवाड़ और दरवाजे—ये सारे स्थूल जगत् के तत्त्वों को रोकने वाले हैं । परमाणु के लिए भीत का कोई अर्थ नहीं है । पदार्थ की ये दो विशेषताएं हैं—रश्मिवत् होना और चयापचय धर्म वाला होना । रश्मियां जो निकलती हैं वे हमें प्रभावित करती हैं और निश्चय ही हम उनसे प्रभावित हो जाते हैं । बहुत सारे पदार्थ ऐसे हैं जिनमें से अच्छी रश्मियां निकलती हैं और अच्छा प्रभाव डालती हैं । इसलिए पदार्थ को हमने मंगल माना । पर हर पदार्थ, हर स्थिति में मंगल होता है ऐसा भी नहीं मानना चाहिए । सौर जगत् के विकिरण आते हैं और मंगल मंगल करते हैं । इस पर आगम शास्त्र में बहुत गंभीर चिन्तन किया गया, फिर निर्णय दिया गया कि वे मंगल हैं । पर इनको वास्तविक मंगल नहीं मानना चाहिए । ये द्रव्य मंगल हैं, भाव मंगल नहीं । द्रव्य का अर्थ है—वास्तविक और भाव का अर्थ है—वास्तविक, पारमार्थिक । ये पारमार्थिक मंगल नहीं हैं । ये मंगल हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते । इसको तर्क

की भाषा में कहते हैं—अनेकान्तिकता । अन्त तक मंगल हो, यह कोई जरूरी बात नहीं । अनात्यन्तिकता और अनेकान्तिकता, ये दो दोष माने जाते हैं, जो वास्तविकता नहीं होने देते । वास्तविकता इसलिए नहीं कि हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता । एक व्यक्ति के लिए दीप मंगल बन सकता है, दूसरे व्यक्ति के लिए नहीं भी बन सकता । एक व्यक्ति के लिए नारियल, अक्षत, दंही, दूध—ये सारे पदार्थ मंगल बन सकते हैं और दूसरे के लिए नहीं भी बन सकते । इसलिए ये वास्तविक मंगल नहीं हैं । इनमें मंगलकारक तत्त्व मौजूद हैं, फिर भी ये आत्यन्तिक और एकान्तिक नहीं हैं । इसलिए निश्चित रूप से हम नहीं कह सकते कि ये मंगल ही हैं ।

ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र और शकुनशास्त्र—ये तीनों भारत की बहुत प्राचीन विद्याएं रही हैं । ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र और शकुनशास्त्र—तीनों में इन पदार्थों के मंगलों का बहुत बड़ा विवेचन है । किन्तु अध्यात्मशास्त्र में मंगल का दूसरी दृष्टि से विवेचन है कि वास्तव में मंगल उसी को मानना चाहिए जिसमें निश्चित ही अनिष्ट को दूर करने की क्षमता हो, विघ्न और बाधाओं को मिटाने की क्षमता हो । उसी को वास्तव में मंगल मानना चाहिए और सबको औपचारिक मंगल मानना चाहिए । अस्वीकार नहीं किया कि पदार्थ मंगल नहीं होते किन्तु सर्वथा स्वीकार भी नहीं किया । उन्होंने परम मंगल पर विचार किया और परम मंगल वह होता है जो निश्चित रूप से मंगल होता है, हर व्यक्ति के लिए होता है, हर काल में और हर देश में होता है । वह वास्तविक मंगल होता है । प्रश्न होगा—वह क्या है ? पहला मंगल है—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं । अर्हत् मंगल है, सिद्ध मंगल है, आचार्य मंगल है, उपाध्याय मंगल है, साधु मंगल है । ये पांच मंगल हैं । क्यों माना गया इनको मंगल ? क्या कारण है कि इन्हें मंगल माना जाए ? कारण यह है कि ये सब आत्मा हैं । आत्मा सबसे बड़ा मंगल है । चैतन्य सबसे बड़ा मंगल है । आनन्द सबसे बड़ा मंगल है । शक्ति सबसे बड़ा मंगल है । आत्मा के तीन लक्षण हैं—अनन्त चैतन्य, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति । ये सबसे बड़े मंगल हैं । चेतना में कभी अमंगल नहीं होता । आनन्द और शक्ति में कभी अमंगल नहीं होता । एक शब्द में कहूँ तो आत्मा सबसे बड़ा मंगल है । थोड़ा विस्तार करूँ तो सिद्ध और साधु सबसे बड़े मंगल है । दो ही मूल बात हैं—सिद्ध और साधु । साधु वह आत्मा है जो साधना में संलग्न रहे । जो आत्मा साधना में जुड़ गयी

और अपने अस्तित्व को उपलब्ध करने में संलग्न हो गयी, वह है साधु । साधु कोई व्यक्ति नहीं, साधु साधना का प्रतिरूप है । साधु का मतलब है—साधना । जो आत्मा साधना में तत्पर है, उस आत्मा का नाम है—‘साधु’ और जो आत्मा साधना करते-करते सिद्धि तक पहुंच गयी, उस आत्मा का नाम है—‘सिद्ध’ ।

साधु प्रारम्भ है और सिद्ध निष्पत्ति । साधु से साधना प्रारम्भ होती है और सिद्ध तक पहुंचकर सम्पन्न हो जाती है । आत्मा की एक वह अवस्था जिसमें साधना का प्रारम्भ होता है और आत्मा की एक वह अवस्था जिसमें साधना करते-करते सिद्धि तक पहुंच जाएं, इस प्रकार हमारे दो ध्रुव बन गए । एक ध्रुव है—साधु और दूसरा ध्रुव है—सिद्ध । अर्हत्, आचार्य, उपाध्याय—ये इन दोनों के मध्य में आ जाते हैं । साधु सबसे बड़ा पद है । मैं मानता हूं कि आचार्य का भी बड़ा महत्त्व है, किन्तु एक दृष्टि से साधु का ज्यादा महत्त्व होता है । यह बहुत बड़ा पद है । साधु से ही आचार्य निकलता है, साधु से ही उपाध्याय ही अर्हत् निकलता है । आकाश से अर्हत् नहीं टपकता और न ही आचार्य और उपाध्याय आकाश से उतरते हैं । सब साधु से ही निकलते हैं, साधना से ही निकलते हैं जो साधना के उत्कर्ष पर चले जाते हैं, वे आचार्य बन जाते हैं और जो ज्ञान की विशिष्ट साधना में चले जाते हैं, वे उपाध्याय बन जाते हैं ।

मूल दो ही हैं—साधु और सिद्ध । अर्हत् को भी सिद्ध बनना है, आचार्य और उपाध्याय को भी सिद्ध बनना है । अर्हत् भी साधु रहे हैं, आचार्य और उपाध्याय भी साधु रहे हैं । मूल दो ही ध्रुव हैं और ये तीन इन्हीं दो ध्रुवों के बीच में होते हैं । मूल बात है कि आत्मा को मंगल माना गया है । आत्मा ही उत्कर्ष भावना और साधना है । इसलिए उसे मंगल माना गया है ।

सबसे बड़ा मंगल होता है—आत्म-तत्त्व । आत्मा को हम समझें । ज्ञान मंगल, आनन्द मंगल और शक्ति मंगल । मन मंगल, वचन मंगल और काय मंगल—ये हमारे मंगल हैं । मन मंगल भी बनता है और मन अमंगल भी बनता है । मन, वचन और काय—ये जब वश में हो जाते हैं तो मंगल बन जाते हैं और वश में नहीं होते हैं तो ये अमंगल बन जाते हैं ।

एक व्यक्ति गुरु के पास गया और बोला, “गुरुदेव ! कोई ऐसा मंत्र बताएं जिससे देवता भी मेरे वश में हो जाएं ।”

गुरु ने कहा, “तुम्हारे नौकर-चाकर तुम्हारे वश में हैं ?”
“नहीं ।”

“तुम्हारा परिवार तुम्हारे वश में है ?”

“नहीं ।”

“पत्नी तो वश में होगी ।”

“नहीं, वह भी नहीं ।”

“तुम्हारा मन तो तुम्हारे में वश है ?”

“नहीं ।”

“अरे भाई ! जब तुम्हारे नौकर-चाकर, तुम्हारा परिवार, तुम्हारी संतानें, पत्नी और यहां तक कि स्वयं तुम्हारा मन तक तुम्हारे वश में नहीं है तो फिर देवता तुम्हारे वश में कैसे होंगे ? सबसे पहले तो अपने मन को वश में करो ।”

देवता को वश में करने से पहले मन को वश में करो, शरीर और वाणी को वश में करो । आप कोई भी साधना करें—चाहे व्यवहार की, चाहे परमार्थ की, किन्तु तीन गुप्तियों के बिना कोई वश में नहीं होता । कितना बड़ा सूत्र दिया था भगवान् महावीर ने तीन गुप्तियों की साधना का—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति । जो आदमी तीन गुप्तियों की साधना नहीं करता, वह अपने मन, वचन और शरीर को वश में किए बिना दूसरों को वश में करना चाहता है, किन्तु ऐसा न कभी हुआ है और न कभी होगा । हम सर्वप्रथम अपने शरीर की साधना करें, कायोत्सर्ग की साधना करें । शरीर को वश में करें और अपने मन को वश में करे । सब वश में हो जाएंगे तो फिर देवता को साधने की जरूरत नहीं होगी । देवता स्वयं अपने आप प्रकट हो जाएंगे । आप देवता को क्यों साधे ? उस देवता से बड़ा देवता तो आपके भीतर बैठा हुआ है । वह है दिव्य आत्मा, दिव्य चेतना । आप अपनी दिव्य चेतना को जगाएं, दूसरे को जगाकर क्या करेंगे ? वे कभी-कभी जगाने वाले की ही बलि ले लेते हैं । उनको न जगाएं ।

जिसने अपने देवत्व को जगा लिया, अपने आपको वश में कर लिया, में उसके लिए मंगल का द्वार खुल गया । मंत्र बहुत हैं । हर परम्परा में है । वैदिक परंपरा में भी बहुत मंत्र है । गायत्री जैसा शक्तिशाली मंत्र है । अथर्ववेद का पूरा भाग मंत्रों से भरा है । बौद्ध परम्परा में भी बहुत सारे मंत्र हैं । बौद्धों ने भी मंत्रों का बहुत विकास किया । जैन परम्परा में भी मंत्रों का प्रयोग होता है । तीनों परम्पराओं में मंत्रों का बहुत विकास हुआ, किन्तु नमस्कार महामंत्र एक अनुपम मंत्र है । इसमें किसी का नाम नहीं । न महावीर का नाम है और न किसी अन्य देवता का । किसी की अर्चना नहीं, किसी की पूजा नहीं । केवल आत्म-तत्त्व की

आराधना । अर्हत् जैन परम्परा में भी हो सकता है और अन्य परम्परा में भी । सिद्ध के लिए कोई ठेकेदारी नहीं । ऐसा नहीं कि जैन परम्परा में ही सिद्ध हों, अन्य परम्पराओं में नहीं । इतना उदार दृष्टिकोण भगवान् महावीर ने दिया कि एक गृहस्थ के वेश में भी सिद्ध हो सकता है और एक साधु के वेश में भी सिद्ध हो सकता है । गृहस्थ के वेश में हमारी परम्परा में सबसे पहले मोक्ष जाने वाली आत्मा है—भगवान् ऋषभ की माता मरुदेवा । वह हाथी पर बैठी है गृहस्थ के वेश में । उसी समय मोक्ष चली गयी । हमारी परम्परा में भी गृहस्थ के वेश में साधु-साध्वी की दीक्षा हुई है । न वेश के साथ कोई आत्मा का विरोध है, न हाथी पर चढ़ने के साथ । मूल प्रश्न है—आत्मा की निर्मलता, आत्म-चेतना का जागरण ।

यह ठीक है कि व्यवहार के जगत का पालन करना पड़ता है किन्तु सूक्ष्म नियम है—अन्तरात्मा के जागरण का । बाकी सारे नियम नीचे रह जाते हैं । “आत्मा को वश में करना”—यह वशीकरण सूत्र हमारी समझ में आ जाए तो कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाएगा । सबसे बड़ा वशीकरण सूत्र है—तीन गुणियों की साधना । सबसे बड़ा वशीकरण सूत्र है—प्रेक्षा ध्यान । ये वशीकरण सूत्र हमारी समझ में आ जाएं तो आगे मंगल, पीछे मंगल । फिर कोई अमंगल नहीं ।

मंगल पाठ

अरहंता मंगल, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवली पण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

मंगल सूत्र का दूसरा परिच्छेद है—मंगल पाठ । यह मंगल सूत्र जैन परम्परा में सबसे अधिक प्रचलित है । प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति के प्रारम्भ में इस मंगल सूत्र का उच्चारण और ध्यान किया जाता है । चार मंगल हैं—अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म । नमस्कार महामंत्र में जहां पंचपरमेष्ठी मंगल है, वहां इस मंगल सूत्र में चार हैं । अर्हत्, सिद्ध और साधु—तीन वे ही जो नमस्कार महामंत्र महामंत्र में है और एक धर्म जो इसमें और जुड़ गया । वास्तव में मंगल केवल एक धर्म ही है । अर्हत् इसलिए मंगल है कि स्वयं धर्म बन जाते हैं । सिद्ध इसलिए मंगल है कि वे धर्म की साधना करते-करते धर्म को स्वभाव में बदल देते हैं । साधु इसलिए मंगल है कि वे धर्म की साधना करते हैं । वास्तव में एक ही मंगल है—धर्म । अधर्म है अमंगल और धर्म है मंगल । गौतम स्वामी ने केशी स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा—धर्म ही शरण है । धर्म ही द्वीप है । धर्म आधार है, गति है, सब कुछ धर्म है । इस संसार में धर्म के सिवाय वास्तविक मंगल कोई भी नहीं है । कोई पदार्थ नहीं है । औपचारिक पदार्थ मंगल होते हैं । पदार्थों को मंगल माना जाता है और वे कुछ मंगलमय वातावरण का निर्माण भी करते हैं । किन्तु जब हम सूक्ष्म जगत् में प्रवेश कर स्थिति का विश्लेषण करते हैं तो पता चलता है कि धर्म के सिवाय दूसरा कोई भी तत्त्व मंगल नहीं है । फिर प्रश्न होगा कि कौन-सा धर्म मंगल है ? जैन धर्म, बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म और ईसाई धर्म—ये बहुत सारे धर्म हैं और छोटे-मोटे धर्मों की तो कोई गणना ही नहीं है । ये धर्म तो बड़े माने जाते हैं, उपधर्मों की तो कोई गणना ही नहीं है । प्रश्न स्वाभाविक है कि कौन-सा धर्म मंगल है ? किसको मंगल मानें ? क्या जैन धर्म को मंगल मानें ? जैन लोग कहेंगे—जैन धर्म को अवश्य मंगल माना जाए । किन्तु दूसरे धर्म वाले कहेंगे—यदि जैन धर्म मंगल है तो वैदिक धर्म मंगल क्यों नहीं ? एक विवाद खड़ा हो जाएगा । भगवान् महावीर ने एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण से धर्म का प्रतिपादन किया, जिसमें धर्म के साथ कोई विशेषण नहीं जुड़ता । उन्होंने कभी

नहीं कहा कि जैन धर्म मंगल है या सबसे प्रधान है । कभी नहीं कहा । और सच तो यह है कि महावीर के समय में 'जैन धर्म' जैसा कोई नाम था ही नहीं । यह नाम तो भगवान् महावीर के निर्वाण के सात-आठ शताब्दियों के बाद प्रचलित हुआ है—जैन धर्म । उस समय इसको श्रमण या अर्हत् धर्म कहते थे, निर्ग्रन्थ प्रवचन कहते थे । निर्ग्रन्थ धर्म यानी निर्ग्रन्थों का धर्म अर्थात् उन लोगों का धर्म, जिनके कोई ग्रन्थ नहीं है, कोई परिग्रह नहीं है, कोई गांठ नहीं है, कोई उलझन नहीं है । इसका अर्थ होता है—आत्मा का धर्म । इस धर्म का नाम था—सामयिक धर्म, श्रमण धर्म, अर्हत् धर्म या निर्ग्रन्थ धर्म, समता वालों का धर्म, आत्मा का धर्म । जब हम आत्मा का धर्म कहते हैं तो सारे विशेषण यहां समाप्त हो जाते हैं । फिर वह विवाद नहीं होता कि कौन-सा धर्म मंगल है ? यानी वह धर्म मंगल है, जो आत्मा का धर्म है । आत्मा का धर्म अर्थात् आत्मा का स्वभाव । धर्म वस्तुतः आत्मा से भिन्न हो ही नहीं सकता । यदि हम उष्णता को अलग कर दें और आग को अलग कर दें तो क्या बचेगा ? अग्नि तभी अग्नि है, जब तक उसमें गर्मी है, दाहकता है, जलाने की शक्ति है । पानी में निर्मलता है, शीतलता है तो पानी है । यदि उसमें से हटा दें तो फिर वह पानी कहां रह जाएगा ?

निर्मलता पानी का धर्म है, ताप अग्नि का धर्म है, वैसे ही आत्मा का भी अपना धर्म है और वह है—ज्ञान, आनन्द, शक्ति । शक्ति आत्मा का धर्म है । आनन्द और ज्ञान आत्मा का धर्म है, इसलिए कहा जा सकता है कि शक्ति मंगल है, ज्ञान और आनन्द मंगल है । प्रश्न तो फिर भी होगा, क्योंकि भाषा की प्रकृति ही ऐसी है । एक बात जब कहते हैं शब्दों के माध्यम से तो दूसरी बात खड़ी हो जाती है । इसलिए खड़ी होती है कि शब्दों में पूरी बात कहने की ताकत नहीं है । शब्दों के द्वारा पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति ही नहीं की जा सकती । हम जो भी कहते हैं, वह एक कोण से कहते हैं, एक दृष्टि से कहते हैं और जब एक दृष्टि से कहते हैं तो दूसरी दृष्टियां अपने आप सामने आ जाती हैं । नये-नये प्रश्न उभरकर आते हैं ।

प्रश्न पुनः वही आता है—कौन-सी शक्ति मंगल है ? वह शक्ति मंगल होगी, जो दूसरों को उठाए । वह शक्ति मंगल नहीं हो सकती जो दूसरों को पछाड़े । शक्ति के द्वारा दोनों काम किए जा सकते हैं—किसी को उठाया भी जा सकता है और किसी को पछाड़ा भी जा सकता है । पछाड़ने वाली शक्ति मंगल नहीं हो सकती ।

एक धार्मिक गुरु प्रवचन कर रहे थे। अपने प्रवचन में आहार-संयम पर बल देते हुए वे कह रहे थे—“धर्म का प्रारम्भ आहार के संयम से होता है। उपवास और ऊनोदरी करो, रस का परित्याग करो।” आहार-संयम पर उन्होंने बहुत लम्बी चर्चा प्रस्तुत की। प्रवचन में बैठा एक आदमी उठकर खड़ा हुआ और बोला—“महाराज ! आपने जो बात कही, वह समझ में नहीं आयी। आहार-संयम करने का मतलब होता है—शरीर को दुबला-पतला बना लेना। आपको पता है कि कुश्ती लड़ने वाले मल्ल कितना खाते हैं ? एक मल्ल के नाश्ते की तालिका को यदि पढ़ा जाए तो आश्चर्य होगा। साधारण शरीर वाला आदमी तो सोच भी नहीं सकता कि इतना खाया जा सकता है ! खूब खाते हैं और व्यायाम करके शरीर को मजबूत बनाते हैं। आपके उपदेश की यह बात समझ में नहीं आती कि कम खाना चाहिए। कम खाने से तो शरीर कमजोर ही बनेगा और कमजोर शरीर किस काम का ?”

बात सुनी और सुनने के बाद संन्यासी ने कहा—“भाई ! मल्ल इतना खाता है, शरीर को मजबूत और ताकतवर बनाता है, बताओ, फिर क्या करता है ?”

“दूसरों को पछाड़ देता है।” जिज्ञासु आदमी झट बोल पड़ा।

संन्यासी ने कहा—“भाई ! तुम्हारी बात ठीक है, किन्तु मैं उस शक्ति को शक्ति नहीं मानता जो दूसरों को पछाड़ती हो ! मैं तो यह चाहता हूँ कि व्यक्ति ऐसी शक्ति अर्जित करे, जो दूसरों को पछाड़े नहीं, किन्तु दूसरों को उठाए। मल्लों का काम तो दूसरों को पछाड़ना है।”

वह शक्ति किसी काम की नहीं होती, जो दूसरों को पछाड़े। वह शक्ति ही मंगल है, जो दूसरों को उठाए। आज तक के इतिहास में यही मिलेगा कि उन्हीं लोगों ने सारी जनता को उठाने का, जगाने का प्रयत्न किया, जिन्होंने आहार-संयम किया है। जिन्होंने इस रहस्य को समझा है कि भोजन की मात्रा को सीमित करके एक ऐसी निर्मल शक्ति पैदा की जा सकती है, जो दूसरों को उठाने का काम करती है, दूसरों को पछाड़ने में कभी नहीं लगती। जिन लोगों ने खूब डटकर खाया, खाने को ही परम कल्याण समझा, उनकी शक्ति सदैव दूसरों को पछाड़ने में ही लगी रही। भोजन-भट्टों ने कभी भी दुनिया के लोगों को उठाने का प्रयत्न नहीं किया, संकल्प भी नहीं किया। उनमें ऐसी ताकत भी नहीं आती, जो औरों को उठा सके। उन लोगों में सात्विक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने आहार का संयम करना सीखा, भोजन का नियन्त्रण सीखा, अपनी जीभ की

लोलुपता को वश में किया। उनमें जो शक्ति जागी, वही शक्ति वास्तव में मंगल होती है।

‘अरहंता मंगलं’—अर्हत् इसलिए मंगल है कि उनमें अनन्त शक्ति जाग जाती है, असीम शक्ति जाग जाती है। जब तक हम पदार्थ की सीमा से बंधे हुए हैं, पदार्थ की लोलुपता के साथ जुड़े हुए हैं, तब तक अनन्त शक्ति का जागरण नहीं हो सकता।

यह अनन्त और असीम शक्ति तब जागती है, जब हम अपने चैतन्य की सूक्ष्म शक्ति के साथ जुड़ जाते हैं। आज की हमारी बड़ी समस्या है कि हम स्थूल के साथ जुड़े हुए हैं, सूक्ष्म के साथ हम नहीं जुड़ते। हमारा एक बहुत विशाल जगत् है—सूक्ष्म जगत्, जिसे हम नहीं जानते। हम केवल स्थूल के साथ अपनी गाड़ी को घसीटे चले जा रहे हैं। मुझे आश्चर्य तो इस बात का होता है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में भी अपनी दृष्टि को सूक्ष्म नहीं बना पा रहे हैं। जहां परमाणु का विश्लेषण हो चुका, जहां सौरमंडल की रश्मियों का विश्लेषण हो चुका और उनके प्रभावों का वर्णन हो चुका, फिर भी हम सूक्ष्म की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं। एक बार सूर्य-ग्रहण होने वाला था। सैकड़ों वैज्ञानिक उस ग्रहण का अध्ययन करने में जुटे हुए थे। विदेशों से सैकड़ों-सैकड़ों वैज्ञानिक उन देशों में पहुंच गए जहां कि पूरा ग्रहण होने वाला था। ग्रहण के प्रभावों का कितनी सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाता है। पूरे ग्रहण के कितने प्रभाव होते हैं और किस प्रकार मनुष्य उनसे प्रभावित होते हैं। कल ही मैंने पढ़ा था कि वे लोग ज्यादा प्रभावित होते हैं, जिनका मस्तिष्क पहले से ही थोड़ा अस्त-व्यस्त या विक्षिप्त होता है। गर्भवती स्त्रियों पर ज्यादा प्रभाव पड़ता है। लोगों की यह धारणा है कि ग्रहण को प्रत्यक्ष या खुली आंखों से नहीं देखना चाहिए, थाली में पानी भरकर उसमें देखा जा सकता है। किन्तु इस ग्रहण के बारे में तो यह जानकारी मिली थी कि पानी में भी इसको नहीं देखना चाहिए। संभव है कि इससे दृष्टि क्षीण हो जाए। सूक्ष्म जगत् में, हमारे आस-पास में किस प्रकार की घटनाएं घटित होती हैं, उन घटनाओं पर हम ध्यान नहीं देते, केवल स्थूल दृष्टि से माप लेते हैं।

सम्यक्दृष्टि वह व्यक्ति होता है, जिसमें स्थूल के प्रति आस्था टूट जाती है। केवल स्थूल सत्त्यों में आस्था रखने वाला व्यक्ति सम्यक्दृष्टि नहीं हो सकता। वह मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यक्दृष्टि होने का अर्थ है—हमारी स्थूल और सूक्ष्म

दोनों के प्रति समान दृष्टि बन जाए। हम केवल यह मानकर न चलें कि यह शरीर अस्तित्व है। यदि यह दृष्टि जाग गए, अपने सूक्ष्म शरीर की दृष्टि साफ हो जाए तो दृष्टिकोण सम्यक् बन जाता है। दृष्टि सम्यक् होने पर इस सचाई को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती कि दृष्टि मंगल है।

दूसरी बात है—आनन्द मंगल है। आनन्द तो स्वयं मंगल है, सुख तो स्वयं मंगल है, किन्तु यह ऐकान्तिक बात नहीं है। कुछ लोगों का आनन्द ऐसा है कि वह दूसरों के लिए अभिशाप बन जाता है। जिनका आनन्द दूसरों के लिए अभिशाप बन जाए, जिनका सुख दूसरों के लिए दुःख बन जाए, वह मंगल नहीं होता। मंगल वह होता है जो दूसरों के लिए अभिशाप न बने, दूसरों के लिए दुःख और समस्या न बने। आदमी को धन से सुख मिलता है और वह मानता है कि धन सबसे बड़ा सुख है। किन्तु धन मिला, समृद्धि बढ़ी तो वह दूसरों के लिए दुःख का कारण बन गया। पड़ोसी के लिए दुःख का कारण बन गया। एक प्रोफेसर ने बीकानेर में एक बात सुनाई—मैंने देखा एक बड़ा आदमी था। उसका पड़ोसी कुछ गरीब था। धनवान व्यक्ति का नौकर अपने सेठ के घर से कचरा निकालता और बेचारे पड़ोसी के दरवाजे के सामने जाकर डाल देता। उसने धनवान पड़ोसी से शिकायत की कि यह तो अच्छी बात नहीं है। सेठ ने कहा—अच्छा-बुरा क्या होता है, यह तो करने वाला जाने, नौकर की बात नौकर जाने। ऐसी धौंसपैटी जमाई कि बेचारा कुछ बोल ही नहीं पाया। करता भी क्या? वह उससे लड़ तो सकता नहीं था। चुप हो गया। ऐसा आनन्द और ऐसी समृद्धि जो स्वयं को सुख दे और दूसरों के लिए कठिनाई बन जाए, समस्या बन जाए, वह समृद्धि किसी काम की नहीं। अपनी समृद्धि को कोई बांटता नहीं, अपने आनन्द को कोई बांटता नहीं, किन्तु अपने अहंकार और दुःख को हर कोई दूसरों में बांटना चाहता है। दुःख को दूसरों में बांटने वाले बहुत मिलते हैं, मिटाने वाले कम और शायद इस पदार्थ जगत् में होने वाले आनन्द का सिद्धान्त ही यह है कि दूसरों कंधों पर बन्दूक रखकर गोली छोड़ी जाए। यह सामान्य सिद्धान्त बन गया है आज का।

आप सच मानें, यह सम्पदा, हमेशा दूसरों के आधार पर होती है। आज भारतीय लोगों की समस्या है कि नौकर नहीं मिलते। अरे, दो हाथों से काम लो। उपनिषद् में ऋषियों ने कहा है—जिनके पास बीस अंगुलियां होती हैं, उनको किसी बात की चिन्ता नहीं होती। आज जब हमने अपने आपको ही भुला दिया

तो अपनी अंगुलियों पर भरोसा कैसे होगा ? आज यह भरोसा नहीं रहा । हर आदमी को नौकर चाहिए और नौकर महंगे व दुर्लभ होते जा रहे हैं ।

सम्पदा के साथ जुड़ा हुआ है—दूसरों का दुःख । पदार्थ के साथ-साथ होने वाले सुख, समृद्धि और आनन्द की गाथा यही रही है कि दूसरे उससे छोटे एवं दुःखी उसके साथ जुड़े हुए होने चाहिए । आदमी दूसरों पर बहुत भरोसा करता है, क्योंकि दृष्टिकोण ऐसा बन जाता है कि वह दूसरों से ही काम लेना चाहता है । और तो क्या धर्म के मामले में भी यही चाहता है कि दूसरों से करवा लूं । एक घटित घटना है—साध्वी ने एक बहन से कहा—कल या तो तुम उपवास रखना, या किसी से करवा लेना । बहन ने स्वीकृति दे दी । तीसरे दिन बहन आयी । साध्वी ने पूछा—उपवास किया या करवा दिया ? बहन बोली—मैं तो नहीं कर सकी, करवा दिया । साध्वी ने पूछा—किससे ? बहन बोली—अपनी भैंस से चौविहार उपवास करवा दिया ।

ऐसा क्यों होता है ? ऐसा इसलिए होता है कि हमारा भरोसा दूसरों से काम करवाने में ज्यादा है । शायद खाने का प्रसंग होता तो भैंस से कभी नहीं करवाता । ऐसा ही कुछ हमारा विश्वास बन गया । बड़ा अजीब विश्वास हो गया । वास्तव में यह आनन्द, यह सुख मंगल नहीं हो सकता । मंगल वह आनन्द होता है, जहां समृद्धि के लिए दूसरों को गरीब न बनाना पड़े, अपने ऐश्वर्य और प्रभुत्व के लिए दूसरों को नीचा न दिखाना पड़े ।

आचार्य भिक्षु जंगल में बैठे थे पेड़ के नीचे । एक भाई उधर से गुजरा । देखा, कोई साधु पेड़ के नीचे बैठा है । प्रणाम किया और पूछा—“महाराज ! आपका क्या नाम है ?”

“मेरा नाम भीखण है ।”

“भीखण जी आप ही हैं ? वही तेरापंथी भीखण ? मेरे मन में तो एक दूसरी ही तस्वीर थी आपकी । मैंने तो आपकी बड़ी महिमा, यश और कीर्ति सुनी थी । सोचता था—कितने हाथी, घोड़े, रथ तथा सेवक आदि साथ में रहते होंगे आपके । पर आप तो इस निर्जन एकान्त में अकेले ही दिखाई दे रहे हैं । सारी तस्वीर खण्डित हो गई ।”

आचार्य भिक्षु ने कितनी मार्मिक बात कही । उन्होंने कहा—मैं अकेला हूं, तभी यह प्रशंसा है । मेरे पास कोई आडम्बर नहीं है, इसीलिए इतना नाम है ।

यह आनन्द होता है मंगल, जिसमें दूसरों को नीचा नहीं बनाया जाता, नौकर

नहीं बनाया जाता, दूसरों को हीन नहीं बनाया जाता, बल्कि दूसरों को सुखी बनाया जाता है ।

हम लोग एक दिन गोचरी के लिए गए । एक छोटे बच्चे ने हाथ में बिस्कुट ले रखा था । आग्रह करने लगा तो मैंने पूछा, “बताओ, तुम खाओगे या दोगे ?” बोला, “दूंगा ।” हमने सोचा—बच्चा है, इसलिए ऐसा कह रहा होगा । माता ने कहा, “जब तक इसके हाथ के सब बिस्कुट नहीं ले लेंगे, यह रोएगा, मानेगा नहीं ।” मेरे मन में एक चिन्तन आया—यह दान वह दान नहीं है, जहां देने वाले का हाथ ऊंचा और लेने वाले का हाथ नीचा रहे । देने वाला अपने हाथ को ऊंचा और लेने वाले के हाथ को नीचा माने । यह वह दान है, जहां लेने वाला अपने आपको धन्य नहीं मानता, किन्तु देने वाला देकर अपने आपको धन्य मानता है, कृतार्थ मानता है । बहुत बड़ा अन्तर है । एक आदमी देता है और देते समय उसका अहंकार इतना जाग जाता है कि अपने आपको धन्य और लेने वाले को तुच्छ मान लेता है । साधु को दिया जाने वाला दान, किसी त्यागी-तपस्वी को दिया जाने वाला दान ऐसा दान नहीं होता कि देने वाला अपने आपको बहुत बड़ा दानी और अहंकारी माने । उसे अपने को धन्य मानना चाहिए, कृतार्थ मानना चाहिए और उसमें यह भावना जागृत होनी चाहिए कि ऐसा दान देकर मैं सफल हो गया, कृतकृत्य हो गया । वह समृद्धि, वह आनन्द जो दूसरों को हीन न बनाए, दूसरों को छोटा न बनाए, सचमुच वह मंगल होता है ।

तीसरी बात है—ज्ञान मंगल होता है । ज्ञान वह मंगल होता है, जो दूसरों के चैतन्य को जगा दे । दीया बुझे नहीं, जाग गए । आचार्य की एक विशेषता अनुयोगद्वार सूत्र में बतलाई गई है कि जैसे एक दीए से हजार दीए जल जाते हैं, उसी प्रकार आचार्य वह होता है, जिसके ज्ञान से हजारों दीपक जल जाते हैं । दीप को जलाएं, बुझाए नहीं । एक संस्कृत कवि ने बहुत मार्मिक श्लोक कहा है । इतना मार्मिक कि इसे संस्कृत साहित्य का मैं एक उत्कृष्ट श्लोक मानता हूँ—

तिमिरलहरीमुर्वीमुर्वि करोतु विकस्वरां,
हरतु निवरां निद्रामुद्रां क्षणाद् गुणिनां गणात् ।
तदपि तरणे ! तेजःपुञ्जः प्रियो न ममैष ते,
किमपि तिरयन् ज्योतिष्वक्रं स्वजातिविराजितम् ॥

—सूर्य ! तुम अंधकार का नाश करते हो, सारी पृथ्वी को विकसित करते हो, तुम नींद का हरण कर लोगों को जगाते हो, फिर भी तुम्हारा यह तेजपुंज मुझे

अच्छा नहीं लगता, क्योंकि तुम अपनी बिरादरी के छोटे-मोटे सदस्यों को तिरोहित कर अकेले चमकने में आनन्द मानते हो ।

कितने मर्म की बात कवि ने कही है । वह प्रकाश, वह ज्ञान अच्छा । नहीं होता जो केवल चमके, सबको छिपा दे । मैं बहुत बार कहा करता हूँ—आचार्य तुलसी की सबसे बड़ी महानता यही है कि वे अकेले नहीं चमके । पूरे संघ को चमकाने के साथ-साथ चमके हैं । अकेले चमकते तो शायद वही स्थिति होती । इतिहास में ऐसा हुआ है । कोई एक मुखिया हो गया तो फिर उसका यही प्रयत्न होता है कि दूसरा और कोई नाम उभर कर न आए, सबको पीछे ही धकेलने की कोशिश होती है । ऐसे अनेक व्यक्ति हमें भी यही सलाह देने पहुंच जाते हैं । वे कहते हैं, “महाराज ! ध्यान दो, आप इतने साधु-साध्वियों को पढ़ा रहे हैं, किन्तु एक दिन ये ऐसे सिर पर हावी हो जाएंगे कि आप पश्चात्ताप करेंगे । नीति की बात तो यह है कि एक आचार्य या कुछ प्रमुख साधु पढ़ गए बाकी को तो पातरा ढोने के काम में ही लगाए रखो, जिससे कि ठीक-ठाक काम चलता रहे ।” ऐसे सुझाव एक नहीं, अनेक बार आए हैं । एक दृष्टि से सोचें तो यह ठीक है । राजनीति की दृष्टि से तो यह ठीक है कि जनता को इतना बेवकूफ बनाए रखो कि वह अपने-अपने अधिकारों की मांग न कर सके । कुर्सी बची रहे और राज्य-सत्ता कायम रहे । किन्तु इस प्रकार का चिन्तन सर्वथा अनुचित है । वास्तव में वही व्यक्ति महान् होता है जो स्वयं के साथ-साथ दूसरों को भी चमकाता है ।

वही ज्ञान मंगल होता है, जो दूसरों को जगाए, बुझाए नहीं । वही आनन्द मंगल होता है, जो दूसरों में दुःख न बांटे बल्कि उनमें आनन्द बिखेरे । वही शक्ति मंगल होती है जो दूसरों के लिए पीड़ाकारक न बने । इसीलिए हम ‘चत्तारि मंगलं’ सूत्र को मंगल मानते हैं और प्रवृत्ति के प्रारम्भ में इस महामंगल का उपयोग करते हैं ।

समर्पण का सूत्र : चतुर्विंशतिस्तव

चतुर्विंशतिस्तव मंगल है। दूसरों शब्दों में यह हमारा समर्पण है। लोगस्स का सूत्र अर्हता का सूत्र है, समर्पण का सूत्र है। लोगस्स सूत्र में 24 तीर्थकरों के प्रति एक साधक के द्वारा समर्पण किया गया है। साधना के क्षेत्र में समर्पण का बहुत बड़ा मूल्य होता है। जिसमें श्रद्धा और समर्पण—ये दो तत्त्व नहीं होते, वह व्यक्ति साधना के क्षेत्र में कभी नहीं उतर सकता। साधना के क्षेत्र में पहला पैर रखने से पूर्व उसे श्रद्धा और समर्पण का अभ्यास करना होता है। श्रद्धा का अपना मूल्य होता है, बहुत बड़ा मूल्य होता है। मैं श्रद्धा के विपक्ष में भी बहुत चर्चा किया करता हूँ। किन्तु वह एक क्षेत्र का भेद है। एक विपर्यय हो गया, एक उल्टी बात हो गयी है कि जहां श्रद्धा होनी चाहिए, वहां हमारे मन में सन्देह हो गया। जहां सन्देह और तर्क होना चाहिए, वहां हम श्रद्धा का प्रयोग कर रहे हैं। जहां सत्य की खोज, सत्य की शोध का प्रश्न है, वहां श्रद्धा की कोई आवश्यकता नहीं है। वहां तो शल्य-चिकित्सा होनी चाहिए। मैंने भगवान् महावीर, आचार्य भिक्षु के विचारों की शल्य-चिकित्सा की तो ऐसा लग सकता है कि मुझमें श्रद्धा नहीं है। मैं मानता हूँ कि इस क्षेत्र में श्रद्धा होनी ही नहीं चाहिए। जहां सत्य को समझना है, वहां हमारे सामने कसौटी होनी चाहिए, वहां हमारे हाथ में तुला होनी चाहिए कि हम तोल सकें, कसौटी कर सकें। वहां हाथ में चाकू होना चाहिए कि हम शल्य-चिकित्सा कर सकें, चीड़-फाड़ कर देख सकें। सत्य को स्वीकार ऐसे ही नहीं किया जाता। उसे स्वीकार करने के लिए बहुत खपने-तपने की जरूरत होती है।

आचार्य भिक्षु को एक भाई गालियां दे रहा था। लोगों ने कहा—महाराज ! कितना उदंड है यह आदमी ! निष्प्रयोजन आपको गालियां बक रहा है। आचार्य भिक्षु तो बहुत मर्मज्ञ थे। वे ऊपर को नहीं देखते थे, चमड़ी को नहीं देखते थे। वे अन्तस्तल तक पहुंचते थे, गहराई तक जाकर देखते थे। उनकी प्रज्ञा इतनी जागृत थी कि भीतर में जाकर वस्तु का मूल्यांकन करती थी। आचार्य भिक्षु ने कहा—जो गालियां दे रहा है, वही मेरा सबसे बड़ा भक्त होने वाला है। लोगों ने कहा—यह कैसे ? आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई आदमी कुम्हार के घर

एक घड़ा खरीदने जाता है तो सबसे पहले घड़े को बजाकर देखता है कि वह फूटा हुआ तो नहीं है। जब दो-चार पैसे के घड़े की इतनी परख करता है तो भला जिसे गुरु मानना है उसे दस-बीस गालियां दिए बिना कैसे स्वीकार करे ? परीक्षा करेगा, पहले देखेगा, तोलेगा कि गुरु में समताभाव कितना है, गालियों का क्या प्रभाव होता है उस पर। पूरी जांच-पड़ताल करेगा, फिर स्वीकार करेगा। ऐसा ही हुआ। गालियां बकने वाला वही व्यक्ति एक दिन आचार्य भिक्षु का बड़ा श्रावक बन गया।

सत्य के क्षेत्र में—जहां सत्य को जानना है, उसे देखना है, वहां बुद्धि का उपयोग होना चाहिए, तर्क का उपयोग होना चाहिए, विचार का उपयोग होना चाहिए और हो सके तो अनुभव का उपयोग होना चाहिए। श्रद्धा का क्षेत्र है अपनी संकल्प-शक्ति का विकास, भावना का प्रयोग। जहां भावना का प्रयोग करना है, जहां संकल्प-शक्ति का उपयोग करना है, सृजन करना है, कुछ निर्माण करना है, वहां श्रद्धा का पूरा उपयोग होना चाहिए। जहां श्रद्धा में एक भी छिद्र बन जाता है, वहां फूटी नौका बन जाती है, डुबाने वाली नौका बन जाती है। तारने वाली नहीं। भगवान् महावीर की भाषा में—भावना एक नौका है। उसमें यदि छेद नहीं है तो वह पार पहुंचा देती है। एक भी छेद हो गया तो बीच में ही डुबो देती है।

श्रद्धा है हमारी भावना में। बड़ा चमत्कार है। जिस व्यक्ति में भावना का बल आ गया, वह अद्भुत काम कर जाता है। अभी दो-चार दिन पूर्व एक चर्चा चल पड़ी। डॉ. टांटिया ने कहा—दर्द बहुत है। मैंने कहा—रंग का प्रयोग करें, भावना का प्रयोग करें। लाल रंग का ध्यान करें। ध्यान किया, भावना का प्रयोग किया। फिर आए और कहने लगे कि इतनी गर्मी हो गई कि रात-भर नींद नहीं ले सका। ऐसा लगा जैसे सारे शरीर में आग लग गई हो। कैसे हो सकता है यह ? क्यों हुआ ? यदि हम भावना का प्रयोग करें तो जैसा अनुभव करेंगे वैसा हो जाएगा।

बीकानेर में शिविर चल रहा था। नमस्कार मंत्र का प्रयोग चल रहा था। लाल रंग का प्रयोग करवाया। वह दिन शिकायतों का दिन रहा। कोई कहता—आग लग रही है। कोई कहता—सिर फटा जा रहा है। बड़ी समस्या पैदा हो गई। सारा दिन गर्मी का दिन रहा। कई व्यक्ति शिकायतें लेकर पास में आते रहे। ऐसा क्यों होता है ?

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ॥

यह लोगस्स के सात श्लोकों में से एक है । भावना का बहुत बड़ा प्रयोग है । पहले चरण का अर्थ है—चंद्रमा की भांति निर्मल । दूसरे चरण का अर्थ है—सूर्य की भांति प्रकाशक । तीरसे चरण का अर्थ है—समुद्र की भांति गम्भीर । चौथे चरण का अर्थ है—जो सिद्ध हैं वे हमें सिद्धि प्रदान करें । बहुत साधारण-सा अर्थ लगता है, किन्तु समर्पण और श्रद्धा के साथ इस भावना का प्रयोग करें तो चमत्कार घटित हो सकता है । श्रद्धा और समर्पण के साथ में जिसने तादात्म्य स्थापित कर लिया । उसे लगेगा कि यह क्या हो गया । बड़ा अजीब-सा हो रहा है । जिसने इसका प्रयोग नहीं किया वह कह सकता है कि यह क्या ? आज के वैज्ञानिक युग में अंधविश्वास की बात कही जा रही है । मैं मानता हूँ कि मैं एक धार्मिक व्यक्ति हूँ, किन्तु वैज्ञानिक युग में जीता हूँ इसलिए वैज्ञानिक भाषा में बात करना पसंद करता हूँ, अवैज्ञानिक भाषा में ले जाना मैं पसन्द नहीं करता । अंधविश्वास जैसा मैं कुछ मानता ही नहीं । पुराने लोग कहते थे—यह अंधविश्वास है, यह अंधविश्वास है । मैंने अपनी भाषा बदल दी । किसी को भी अंधविश्वास कहना आज दुःसाहस की बात है । कोई दुःसाहसी व्यक्ति ही कह सकता है कि यह अंधविश्वास है । जिन सैकड़ों-सैकड़ों बातों को हम अंधविश्वास मानते थे, आज वे बातें वैज्ञानिक होती चली जा रही हैं । भावना का प्रयोग आज विज्ञान के क्षेत्र में बहुचर्चित हो रहा है । आज का कोई भी वैज्ञानिक दृष्टि वाला व्यक्ति, जो गुणसूत्रों के बारे में थोड़ा-सा भी जानता है, वह इस बात का ज्ञान रखता है कि आज जीन पर जो खोजें हो रही हैं, वे भावना के प्रयोग की ही खोजें हैं । आज का वैज्ञानिक इस खोज में लगा है कि जीन को बदल कर पूरे बच्चे को बदल दिया जाए । आज कल्पना तो यह की जा रही है कि आने वाले युग में यह हो जाएगा कि एक वैज्ञानिक अपनी लेबोरेट्री में बैठा है । कोई व्यक्ति जाएगा और कहेगा कि हमें ऐसा बच्चा चाहिए तो वह जीन को बदल देगा । यह जीन ले जाओ, वैसा ही बच्चा हो जाएगा । जैसा पसन्द करो, वैसा लड़का । इस पर आज बहुत काम हो रहा है । इसी विषय में दिल्ली विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर प्रो. मेहरोत्रा ने कहा था—मुनिजी ! आज जीन पर जो काम हो रहा है, उस पर हम भारतीय दर्शन की दृष्टि से क्या कह सकते हैं ? हमारा प्रवचन था 'प्रेक्षाध्यान' विषय पर दिल्ली विश्वविद्यालय में । वहां कुलपति उपस्थित थे ।

वहां उन्होंने यह चर्चा प्रस्तुत की कि जीन के विषय में आज सारे संसार में बड़ी अद्भुत बातें चल रही हैं। इतनी तेजी के साथ खोजें हो रहीं हैं कि अगर हम कोई नयी बात दे सकें तो भारत का बहुत बड़ा योग होगा, अनुदान होगा। मैंने कहा—यह तो संभव है, क्योंकि आज जीन की खोजों के द्वारा जो हो रहा है, उसकी कर्मशास्त्र में बहुत विस्तार से चर्चाएं हुई हैं। कर्म-प्रकृतियों को जानने वाला, कर्मशास्त्र का अच्छा अध्येता व्यक्ति इन सारे रहस्यों को समझ सकता है, जो रहस्य आज जिनेटिक इंजीनियरिंग में समझे जाते हैं।

मुझे कोई आश्चर्य नहीं लगता है कि यदि भावना का वैसा प्रयोग किया जाए तो इच्छित सन्तान प्राप्त की जा सकती है। ज्ञातासूत्र को पढ़ने वाला हर व्यक्ति जानता है कि एक गर्भवती स्त्री के लिए कितने निर्देश दिए गए हैं। ज्ञातासूत्र ग्यारह अंगों में छठा अंग है। उसका पहला अध्ययन है—मेघकुमार। उस अध्ययन में मेघकुमार का प्रसंग है। वहां गर्भ का प्रसंग है, गर्भिणियों का वर्णन है। इतना वैज्ञानिक वर्णन है कि मां को कैसे उठना, बैठना, चलना, खाना तथा किस प्रकार का विचार करना चाहिए। पूरा सांगोपांग वर्णन है। क्योंकि उस अवस्था में माता का जिस प्रकार का विचार, भाव, व्यवहार होता है वैसा ही प्रतिबिम्ब बच्चे पर पड़ता है। कुछ वैज्ञानिकों ने प्रयोग किया कि एक कमरा बिलकुल नीले रंग से रंग दिया। चारों तरफ नीला ही नीला रंग। खरगोश के एक जोड़े को वहां छोड़ा गया। जब बच्चा हुआ तब देखा गया कि खरगोश के बच्चों के जो केश हैं, उनमें नीले रंग की छाया है।

नीग्रो का फोटो सामने था। एक गर्भिणी उसको देखती रहती। बच्चा नीग्रो जैसा पैदा हुआ।

हमारे अन्तर्जगत् में, सूक्ष्म जगत् में भावना का इतना प्रबल प्रभाव होता है कि जिस प्रकार की भावनाएं निरन्तर चलती रहती हैं, व्यक्ति का परिणामन उसी प्रकार होता चला जाता है। हम स्थूल जगत् में बहुत कम बदलते हैं किन्तु भीतर का जगत् इतना बदलता है और इतनी सूक्ष्मता से बात को पकड़ता है कि हम सामान्यतः कल्पना ही नहीं कर सकते। यह भावना का प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण प्रयोग होता है। आपको पता है कि हिमालय में कितनी भयंकर बर्फ पड़ती है। तिब्बत के योगियों में एक कसौटी होती थी कि वहां साधक साधना करता और साधना की परीक्षा देनी होती। गुरु परीक्षा लेता तो दो प्रकार का प्रयोग करता—बर्फ पर बैठकर पसीना निकाल दे तो कसौटी में उत्तीर्ण। लामा बर्फ की

शिला पर बैठता, ध्यान करता, भावना का प्रयोग में उत्तीर्ण । लामा बर्फ की शिला पर बैठता, ध्यान करता, भावना का प्रयोग करता और सारे शरीर से पसीना चूने लग जाता । कसौटी में वह उत्तीर्ण हो जाता । कैसे हो सकता है ? ध्यान में बैठो और पसीना निकल आए ! हो सकता है, बहुत संभव है । बर्फ पर बैठें, आतप की भावना करें, सूर्य की भावना करें, बर्फ पर बैठे हुए भी पसीना चूने लग जाएगा । सारा शरीर गर्म हो जाएगा ।

भगवान् महावीर वस्त्र नहीं रखते थे, बहुत स्पष्ट है । क्या यह संभव है, इतनी भयंकर सर्दी को आदमी इस प्रकार सहन कर सके ? आपका तर्क होगा कि वे अनन्त शक्तिशाली थे । किन्तु अनन्तशक्ति का मतलब यह थोड़ा ही है कि सर्दी न लगे । अनन्तशक्ति का मतलब यह है कि उनका वीर्य कभी विचलित नहीं होता, चाहे कितने ही भयंकर उपद्रव और कष्ट आ जाएं । उनमें इतना असीम पराक्रम होता है कि उन्हें कोई विचलित नहीं कर सकता । कड़कड़ाती सर्दी में वे रहते थे । कैसे ? मान लो भगवान् इतने शक्तिशाली थे, पर उनके साथ हजारों मुनि नग्न रहने वाले थे, वे किस प्रकार सहन करते थे ? मात्र भावना का प्रयोग । आज भी कुछ मुनि नग्न रहते हैं । आज की चर्चा करना तो मैं पसन्द नहीं करता, क्योंकि वे वस्त्र तो नहीं रखते किन्तु सुरक्षा के शायद अनेक उपाय काम में लेते हैं । पर महावीर तो अकेले घूमते थे । उनके साथ तो कोई नहीं था, सुरक्षा का कोई उपाय भी नहीं था । फिर कैसे सम्भव था ? आचारांग सूत्र में वर्णन मिलता है कि इतनी भयंकर, कंपा देने वाली बर्फीली हवा, जिसमें लोग बाहर निकलते भी नहीं थे, घर के भीतर आग तापते थे, उस भयानक सर्दी में महावीर रात के समय मकान के बाहर जाकर चक्रमण करते, जहां कहीं धूप आती वहां से उठकर छांह में जाकर बैठ जाते । आखिर यह कैसे सम्भव था ? यहां है भावना का प्रयोग । जब भावना का प्रयोग होता है, सर्दी के बीच, हिमालय के बीच बैठकर भी पसीना निकाल देना कोई बड़ी बात नहीं है ।

दूसरी कसौटी होती थी—भयंकर गर्मी में शरीर को उसी तरह कंपा देना जैसे भयंकर सर्दी में कांपता है । गर्मी के मौसम में सर्दी की भावना का जप किया जाता है, तो वैसा ही परिणामन हो जाता है । यह बिलकुल ठीक बात है कि हम भावना के द्वारा चांद जैसी निर्मलता, सूर्य जैसी प्रकाशशीलता और सागर जैसी गम्भीरता को उपलब्ध हो सकते हैं, यदि सिद्धों के प्रति हमारा समर्पण हो, श्रद्धा हो और हमारी भावना का प्रयोग हो ।

समर्पण का अर्थ होता है—अपने अहंकार का विसर्जन, अपने ममकार का विसर्जन। जब तक व्यक्ति में अहंकार और ममकार होता है, तब तक समर्पण नहीं हो सकता और यह साधना का क्षेत्र ही ऐसा है जिसमें केवल समर्पण की बात है। साधना के क्षेत्र में कोई व्यक्ति प्रविष्ट हो और समर्पण न करे तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। एक सैनिक जितना अपने अधिकारी के प्रति समर्पित होता है, अपनी व्यवस्था के प्रति समर्पित होता है, साधक को उससे भी ज्यादा समर्पित होना होता है।

जापान में बौद्धों का एक सम्प्रदाय है—झेन बौद्ध। एक शिष्य गया अपने गुरु के पास बोला—गुरुदेव, मैं कौन हूँ, यह जानना चाहता हूँ। गुरु ने डंडा उठाया और लगा दिया। वहाँ से दौड़ा हुआ गया वह मुख्य गुरु के पास शिकायत करने के लिए। बोला—गुरुदेव, मैं तो केवल यह जानने के लिए गया था अपने गुरु के पास कि मैं कौन हूँ और उन्होंने मुझे डंडे से मारा। गुरु ने कहा—उसने तो डंडा ही मारा। चला जा, मुझसे यह मत पूछ, अन्यथा मैं डंडा, लात और चांटे भी मारूंगा, क्योंकि जो प्रश्न अपने आप से पूछना है, वह तू मेरे से पूछने आया है। अभी तुझमें समर्पण नहीं आया। सत्य के प्रति अभी तू समर्पित नहीं हुआ है। जब तक समर्पण नहीं आएगा, तेरा अहंकार और ममकार नहीं छूटेगा, तब तक इस प्रश्न का उत्तर तुझे नहीं मिलेगा।

साधना का मार्ग पूर्ण समर्पण का मार्ग है। हमारे धर्मसंघ में विनय और समर्पण की अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं उपलब्ध हैं। हमारा इतिहास समर्पण का इतिहास है। परिणाम भी स्पष्ट है कि आज तेरापंथ धर्मसंघ को जो सुषमा मिली है, जो विकास हुआ है, शायद अन्यत्र कम हुआ है। इसका कारण साफ है कि जब गुरु और शिष्य के बीच में तर्क का व्यवहार होता है, केवल बुद्धि का व्यायाम चलता है तो वह संघ कभी गतिशील नहीं बन सकता। साधना का मार्ग है—अपने अहंकार का विलयीकरण। मैंने जीवन के दोनों पक्षों का अनुभव किया है। तर्क के क्षेत्र का पूरा अनुभव किया है। तर्कशास्त्र का विद्यार्थी रहा। उसका पूरा प्रयोग किया और बड़ी मल्ल कुशितयां भी लड़ीं। बड़ी चर्चाएं हुई हैं विद्वानों के बीच। किन्तु जहां गुरु का प्रश्न था, वहां पूर्ण समर्पण का अनुभव किया। यह मेरे जैसा भोला व्यक्ति ही कर सकता था, समझदार व्यक्ति तो ऐसा कर ही नहीं सकता। मुझे याद है कि पूज्य कालूगणी पाली में विराज रहे थे, और मैं था अध्यापक गुरु तुलसी के पास। किसी कारणवश उनके मन में कोई नाराजगी हो गई, वे अप्रसन्न हो गए। मुझे नहीं मान्य था कि वे अप्रसन्न रहें। प्रतिक्रमण के बाद मैं गया।

वन्दना कर बैठा। पैर पर हाथ रख दिया, पैर पकड़ लिया। कुछ कहने की हिम्मत नहीं रही, बैठा रहा और तब तक बैठा रहा जब तक एक प्रहर राच चली गई। न वे बोले, न मैं बोला। वे अपने सोने के स्थान पर चले गए, मैं अपने सोने के स्थान पर चला गया। क्या ऐसा भोलापन कोई समझदार व्यक्ति कर सकता है? किन्तु मैं जानता हूँ कि जहाँ गुरु हैं वहाँ तो यह भोलापन ही काम आ सकता है। यदि गुरु और शिष्य में रोज तर्क की लड़ाइयाँ लड़ी जाएँ, परस्पर में टकराव चलता रहे तो गुरु गुरु नहीं, शिष्य शिष्य नहीं, दोनों निकम्मे हैं। गुरु गुरु नहीं बना, शिष्य शिष्य नहीं बना।

गुरु आचार्य भिक्षु को मानता हूँ कि जिनमें इतना अनुशासन था कि कोई भी शिष्य तर्क नहीं कर सकता था। ज्ञान के क्षेत्र में बहुत अवकाश था, वहाँ तर्क की पूरी छूट थी किन्तु जहाँ व्यवहार का प्रश्न था वहाँ तर्क की कोई गुंजाइश नहीं। जो कह दिया, वह मान लिया। वहाँ मानने की बात मुख्य बन जाती है और इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। हमने अभी साधना की दृष्टि से इसका मूल्यांकन नहीं किया। हमने श्रद्धा का प्रयोग ज्ञान के क्षेत्र में किया जो कि नहीं होना चाहिए। श्रद्धा का प्रयोग मात्र साधना के क्षेत्र में होना चाहिए। ज्ञान का क्षेत्र श्रद्धा का क्षेत्र नहीं है। वहाँ तो बहुत तर्क किया जा सकता है। सारे कठोर तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किन्तु श्रद्धा का क्षेत्र है—साधना का क्षेत्र। हमारा मन जितना निर्विकल्प होगा, वह काम हो जाएगा, बिलकुल हो जाएगा। एक भी विकल्प उठा तो आप मान लीजिए कि सफलता भंग हो गई। कुछ भी नहीं। थोड़ी-सी रेत उठाई पानी में डालकर पी ली भयंकर बीमारी मिट गई। क्या वह रेत का कोई चमत्कार है। इस भ्रम में न जाएँ कि यह किस व्यक्ति के पैर की रज है। यह श्रद्धा का चमत्कार है। मन में इतना दृढ़ विश्वास हो गया तो जो होने वाला है, वह निश्चित ही वैसा हो जाएगा। उसमें कोई अन्तर आने वाला नहीं है। कोई ताकत ऐसी नहीं जो उसको बदल दे। किन्तु श्रद्धा निश्छिद्र होनी चाहिए, प्रगाढ़ होनी चाहिए। हमारा समर्पण वैसा होना चाहिए। हमारे अहंकार और ममकार का पूर्ण विलय होना चाहिए।

आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई किसी का शिष्य नहीं होगा, शिष्या नहीं होगी। सारे शिष्य आचार्य के होंगे। जयाचार्य ने व्यवस्था की कि पुस्तक पन्ने अपने नहीं होंगे। यह क्यों? ममकार को मिटाने के लिए। जब तक ममकार नहीं मिटेगा, समर्पण पूरा होगा नहीं, काम पूरा बनेगा नहीं। जब तक अहंकार नहीं मिटेगा, समर्पण होगा नहीं।

एक बहुत पहुंचे हुए संत थे। इतनी साधना की कि उनका यश चारों ओर फैला। यहां तक कि उनकी कीर्ति देवताओं तक भी पहुंची। एक देवता आकर बोला—महाराज ! आपकी कीर्ति-सुगन्ध चारों ओर फैल रही है। आप महान् तपस्वी और साधक हैं। मुझ पर कृपा करें। मैं आपको कुछ वरदान देना चाहता हूं। साधक बोला—मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं अपने में सन्तुष्ट हूं। देव बोला—नहीं, मुझ पर आपको कृपा करनी ही होगी। मैं कुछ देना चाहता हूं, आप उसे स्वीकार करें। साधक नकारता रहा और देव स्वीकार करने की प्रार्थना करता रहा। देव ने हठ पकड़ लिया। अन्त में साधक ने कहा—अच्छा, तुम कुछ देना ही चाहते हो तो बताओ क्या दोगे ? देव ने कहा—मैं आपको ऐसा वरदान दूंगा कि आप यदि मूर्च्छित या मृत व्यक्ति की ओर आंख उठाकर देख लेंगे तो वह जीवित हो उठेगा। साधक ने कहा—इसके साथ-साथ मेरी गर्दन को इस प्रकार कर देना कि वह पीछे मुड़कर देख न सके। यह सुनकर देव आश्चर्यचकित रह गया। उसने पूछा—ऐसा क्यों ? साधक बोला—देखो, तुम्हारे इस वरदान से मेरी जयजयकार होगी। लोग मेरी पूजा करेंगे। यह सब अहंकार को बढ़ाने का उपाय बनेगा। मैं उससे छूट चुका हूं। फिर कहीं उसमें न फंस जाऊं।

सचमुच हमारा अहंकार इतना विलीन हो जाए कि क्या हो रहा है यह देखने के लिए गर्दन मुड़े नहीं। केवल वर्तमान को, सामने को देखते रहें। यदि ऐसी स्थिति जागती है, अहंकार और ममकार का इतना विलय होता है तो भावना का प्रयोग सफल होता है। भावना के क्षेत्र में बहुत बड़ा मंगल होता है—समर्पण, बहुत बड़ा मंगल होता है—श्रद्धा। जिस व्यक्ति ने श्रद्धा का मूल्यांकन किया, समर्पण का मूल्यांकन किया, अहंकार और ममकार का विलय किया, उसके लिए सारा संसार मंगलमय बन गया। चौबीस तीर्थकरों की स्तुति की जाती है, वे तो हमारे ही जैसे पुरुष थे। वे साधना के द्वारा अहंकार और ममकार का विलय कर सत्य के प्रति, धर्म के प्रति, अपना पूर्ण समर्पण कर इस प्रकार के मंगलमय पुरुष बन गए कि उनके प्रति समर्पण करने वाला व्यक्ति भी स्वयं मंगल मय बन जाता है, चारों दिशाएं उसके लिए मंगलमय बन जाती हैं। हम सचमुच साधना का मूल्यांकन करें और वैसे बनें। भावना का प्रयोग मात्र जानने और लिखने का प्रयोग नहीं है। मैं इस बात में विश्वास नहीं करता जो केवल लिखी गई हो, उस पर साधना न की गई हो।

हम केवल लिखें, बोलें और अपने जीवन में कोई अभ्यास या प्रयोग न करें

तो यह वही बात होगी कि दूसरों को समृद्धि का पाठ पढ़ाना और स्वयं फटेहाल जीवन बिताना । हम स्वयं साधना का प्रयोग करें, मंगल का प्रयोग करें, स्वयं उनकी सूत्र-पद्धति में जाएं तो सचमुच हमारे लिए सारी दिशाएं मंगलमय बन जाएंगी । यह मंगलसूत्र की साधना का बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है ।

“आरोग्य बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दितु” — इसमें भावना की गई है कि सिद्ध ! आपके द्वारा मुझे आरोग्य मिले, बोधि मिले, समाधि मिले । जीवन की हमारी तीन भावनाएं होती हैं ।

पहली है—आरोग्य—शरीर का आरोग्य, मन का आरोग्य और भावना का आरोग्य ।

दूसरी है—बोधि मिले, चेतना मिले ।

तीसरी है—आधि-उपाधि के चक्रव्यूह से निकलकर हम समाधि की अवस्था में जा सकें तो उससे बड़ा दुनिया में कोई मंगल नहीं हो सकता । हम भावना करें और सूक्ष्म मन की सारी शक्ति को जुटाकर भावना करें । आधि, व्याधि और उपाधि—शरीर की बीमारी, मन की बीमारी और कषाय की बीमारी—इन तीनों से मुक्त होकर हम समाधि के क्षेत्र में प्रवेश करें । धर्म हमारे लिए इसीलिए मंगल है कि उसके द्वारा व्याधि, आधि और उपाधि का छुटकारा होता है और समाधि के द्वार में हमारा प्रवेश होता है ।

जिन शास्त्र : १

श्रमण सूत्र का पहला प्रकरण है—‘मंगल’ और दूसरा प्रकरण है—‘जिन शासन’। शासन हर व्यक्ति के लिए जरूरी होता है। कोई भी व्यक्ति अकेला जीवन नहीं जी सकता। वह सामूहिक जीवन जीता है, समाज का जीवन जीता है और जो समाज का जीवन जीता है उसके लिए अनुशासन जरूरी है। अनुशासन की अपनी समस्या है। इतना प्रयत्न आज राजनैतिक और सामाजिक स्तर पर चल रहा है अनुशासन की प्रतिस्थापना के लिए, पर अनुशासन नहीं आ रहा है। इस प्रश्न का यदि हल सोचा जाए कि इतना प्रयत्न करने के बाद भी अनुशासन क्यों नहीं आ रहा है? खराबी कहां है? क्या कारण है कि अनुशासन नहीं आ रहा है? तो मुझे लगता है, समस्या यह है कि बेटा जन्मा ही नहीं, पर चिन्ता हो रही है कि वह गोरा है या काला? तर्कशास्त्र का वाक्य है—‘न हि वन्ध्यापुत्रः गौरो वा कालो वा विचार्यते।’ दो-तीन आदमी बैठे थे। बातचीत होने लगी कि बांझ का बेटा गोरा है या काला? एक समझदार और अनुभवी आदमी उधर से गुजरा। उनकी बातें सुनी और बोला—यह क्या पागलपन की बात कर रहे हो? बांझ के बेटा होता ही नहीं तो उसके गोरे या काले होने की तकरार क्यों कर रहे हो?

जो बात बाद में सोचने की होती है, वह पहले कैसे सोच ली जाए? किन्तु दुनिया में कभी-कभी ऐसा चलता है। हमारी कल्पना की दुनिया में, हमारी विकल्पों की दुनिया में ऐसा होता है कि पहले सोचने वाली बात नहीं सोची जाती और बाद में सोचने वाली बात सोच ली जाती है। सोची ही नहीं जाती, बल्कि उसके लिए लड़ाइयां भी लड़ ली जाती हैं।

पति-पत्नी में झगड़ा हो गया। झगड़ा इतना तेज हो गया कि आसपास के पड़ोसी भी वहां इकट्ठे हो गए। यह सच है कि विवाह के कुछ वर्ष बीत जाते हैं तो झगड़ा फिर तेज ही होता है। पड़ोसियों ने पूछा—भाई, झगड़ा क्यों कर रहे हो परस्पर? पत्नी ने कहा—झगड़ा क्या, झगड़ा तो होना ही है। कितने वर्ष हो गए इस घर में आए, पर ये मेरी एक बात भी नहीं मानते। हर बात में मनमानी

करते हैं, आखिर मेरी भी कुछ इच्छाएं हैं। पर ये हैं कि मेरी कोई भी बात नहीं सुनते। पड़ोसी बोला—बात क्या है? उसने कहा—बात बस यही है कि मैं चाहती हूँ मेरा लड़का डॉक्टर बने। उसे डॉक्टर बनना ही चाहिए, पर ये मानते ही नहीं।

पति ने कहा—इसकी बात आप लोगों ने सुनी, अब मेरी भी तो सुनो। आज करों का भार इतना बढ़ गया कि हम व्यापारी लोग दिन-रात वकीलों के पीछे चक्कर लगाते फिरते हैं। मेरा बेटा वकील बन जाएगा तो इस मुसीबत से छुटकारा मिल जाएगा। आप लोग ही बताएं, मैं क्या गलत सोच रहा हूँ?

पत्नी फिर बोली—मैं भी तो बीमार रहती हूँ। आए दिन किसी न किसी डॉक्टर को बुलाना पड़ता है, अस्पतालों के चक्कर लगाते-लगाते मैं भी थक गई हूँ। आप लोग ही बताएं—मेरा चिन्तन क्या गलत है? बस हम दोनों का यही झगड़ा है।

पड़ोसी समझदार थे। उन्होंने कहा—ठीक है, एक की राय है कि बेटा डॉक्टर बने और दूसरों की राय है कि वह वकील बने। पर कम से कम उस लड़के की राय भी तो जान लेनी चाहिए कि वह क्या बनना चाहता है। लड़के को बुलाइये।

पति-पत्नी दोनों बोल उठे—लड़का तो अभी पैदा ही नहीं हुआ।

हमारी दुनिया में न जाने कल्पना के आधार पर कितना कुछ चलता है। लड़का पैदा होने के बाद जो बात सोचनी चाहिए वह पैदा होने के पहले ही सोच ली जाती है, यही तो सबसे बड़ी भूल है। जिस समय जो बात सोचने की होती है वह उसी समय सोची जाए तब तो उसका कोई परिणाम आता है। किन्तु पहले सोचने वाली बात को बाद में और बाद में सोचने वाली बात को पहले सोच लिया जाए तो उसका कोई परिणाम नहीं आता। हम अनुशासन की बात बहुत सोचते हैं। अनुशासन आए, पर संभव नहीं। शासन ही नहीं है तो अनुशासन कहां से आएगा। इस शब्द को जानने वाला व्यक्ति जानता है कि शासन के पीछे 'अनु' लगता है तब अनुशासन बनता है। 'अनु' का अर्थ होता है बाद में अर्थात् बाद में होने वाला शासन। शासन के बाद में होता है अनुशासन। पहले पुत्र होने की चिन्ता नहीं करते, पहले काले और गोरे की चिन्ता करने लग जाते हैं। हम पहले अनुशासन लाना चाहते हैं जब कि पहले शासन लाना जरूरी है। सबसे पहले चिन्ता करें शासन की। जब शासन होगा तो अनुशासन अपने आप जीवन

में उतर जाएगा। शासन बाहर से नहीं आता, अनुशासन बाहर से आ सकता है। शासन बाहर से नहीं आता, इसी बात की सूचना है—‘जिन शासन’। ‘जिन’ कोई दूसरा नहीं होता, जिन अपनी आत्मा होती है। वह आत्मा, जिसकी चेतना का विकास हो गया हो, जिन होता है। वह आत्मा जिसकी चेतना विकसित होने के अनन्तर राग-द्वेष समाप्त हो गए, जिन होता है। आज जैन परम्परा में ‘जिन’ शब्द प्रचलित है। हो सकता है कि प्राचीन काल में ‘चिन’ शब्द था, जो आज ‘जिन’ बन गया। प्राकृत में ‘चिन’ का ‘जिन’ बन जाता है। बहुत बड़ा भ्रम हुआ है। ‘आज्ञाविचय’ का कर दिया गया आज्ञाविजय। ‘लोकविचय’ का होना चाहिए ‘लोकविजय’। प्राकृत व्याकरण के अनुसार ‘च’ का ‘ज’ हो जाता है। ‘चितम्’ का ‘जितम्’। परिचितम् का परिचतम्। विचय का विजय। पकड़ा नहीं गया, ‘चिन’ का जिन हो गया। तब दो अर्थ बन गए। चिन का अर्थ है—जानना। दूसरा अर्थ यदि ‘जिन’ मानें तो उसका अर्थ होता है—जीतने वाला। दोनों अर्थ घटित होते हैं। चिन का अर्थ है—‘आत्मज्ञानी’। जिसे आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो गया, जिसे कैवल्य उपलब्ध हो गया, वह जिन (चिन) होता है अथवा जिसके राग-द्वेष क्षीण हो गए, वह जिन होता है। जिन-शासन का अर्थ है—आत्मा का शासन। जिस व्यक्ति का अपनी आत्मा पर शासन हो गया, अनुशासन अपने आप उसमें आ जाएगा। अनुशासन की कठिनाई है कि हम शासन की ओर ध्यान नहीं देते। जैन परम्परा में साधना को नया आयाम दिया। कुछ लोगों की धारणा थी कि साधना अकेले में ही हो सकती है। जैन तीर्थंकरों ने कहा—साधना संघबद्ध हो सकती है। इतिहास की दृष्टि से श्रमण परम्परा ने सबसे पहले संघबद्ध साधना का प्रयोग प्रारम्भ किया। इसलिए संघ का बड़ा महत्त्व है। जैन धर्म में संघ का जितना महत्त्व है, उतना महत्त्व अन्यत्र शायद परिस्थापित भी नहीं। संघ का महत्त्व बढ़ते-बढ़ते यहां तक बढ़ गया, वह इतना प्रधान हो गया कि आचार्य भी संघ की अवज्ञा नहीं कर सकते। भद्रबाहु स्वामी ने जब यह निर्णय लिया कि मुझे महाप्राण ध्यान की साधना करनी है, अब किसी को वाचना नहीं दूंगा, पढाऊंगा नहीं। ऐसा होता है, जब व्यक्ति साधना में जाता है तो सहज ही निरपेक्षता जागती है। इतने बड़े आचार्य, चतुर्दशपूर्वी, एकमात्र संघ के नेता। उस समय कोई सम्प्रदाय नहीं था दूसरा। न कोई श्वेताम्बर था, न कोई दिग्म्बर था। संघ में कोई विभाजन नहीं हुआ था। एकमात्र समूचे संघ के, जैन धर्म के अप्रतिम नेता और उन्होंने निर्णय ले लिया कि अब मैं किसी को पढाऊंगा नहीं। बड़ी समस्या

हो गई। श्रुत केवली, चतुर्दशपूर्वी और वे नहीं पढ़ाएंगे तो इसका अर्थ है कि ज्ञान की परम्परा लुप्त हो जाएगी, विच्छिन्न हो जाएगी। संघ मिला, हजारों साधु इकट्ठे हुए, साध्वियां मिलीं, श्रावक-श्राविकाएं मिले और निर्णय हुआ कि आचार्य भद्रबाहु से प्रार्थना की जाए। साधुओं को भेजा, उन्होंने आचार्य के सामने प्रार्थना रखी। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—मैं महाप्राण ध्यान की साधना कर रहा हूँ। मैं अब ऐसा नहीं कर सकता।

दूसरी बार फिर अनुरोध किया गया और संघ की भावना से अवगत कराते हुए उनसे कहा गया कि समूचा संघ यह निर्णय लेता है कि आपको पढ़ाना चाहिए। आप संघ की प्रार्थना को स्वीकार करें तो हमारा सौभाग्य है और संघ की भावना को ठुकराते हैं तो इस बात पर विचार करें कि उसका क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए? जब यह अन्तिम बात उनके सामने रखी गई तो आचार्य भद्रबाहु ने कहा—यदि स्थिति यहां तक पहुंचती है, संघ का एक अनुरोध है, प्रबलतम अनुरोध है तो मैं उसे नहीं ठुकराऊंगा। मैं संघ के अनुरोध को स्वीकार करता हूँ। कुछ समय निकालकर, अपने ध्यान की साधना चालू रखते हुए भी शिष्यों को पढ़ाऊंगा।

संघ की इतनी महत्ता जैन शासन में प्रस्थापित हुई। यह बहुत आवश्यक है। शासन बहुत उपयोगी होता है। यदि शासन न हो तो परम्परा कभी चल नहीं सकती। दीप से दीप जल सकता है। सारे व्यक्तित्व संघ में से निकलते हैं। यदि संघ न हो तो स्थिति नहीं बनती। साधना करते वाले सब लोगों में बहुत शक्ति नहीं होती। बहुत से लोग कमजोर भी होते हैं। आज बहुत वैज्ञानिक खोजों के बाद इस सचाई को स्वीकार किया गया कि एक व्यक्ति अकेला ध्यान करता है और एक व्यक्ति समूह में ध्यान करता है, तो समूह का ध्यान ज्यादा उपयोगी होगा। इसलिए अकेले व्यक्ति के ध्यान की अपेक्षा ग्रुप मेडिटेशन की बात ज्यादा चलती है। समूह में ध्यान किया जाए। एक व्यक्ति का 'ओरा', उसका आभामंडल दुर्बल है। एक व्यक्ति में लेश्या क्षीण है, कमजोर है किन्तु एक शक्तिशाली व्यक्ति बैठता है और उसके आस-पास यदि पचासों-सैकड़ों व्यक्ति बैठते हैं तो सब को प्राण-शक्ति मिलती है और सब में नयी स्फुरण, नयी चेतना जागती है। पहले व्याख्या इतनी स्पष्ट नहीं थीं, किन्तु आज तो व्याख्या बहुत स्पष्ट हो गई है।

हमारा अस्तित्व क्या है? जैन दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो प्रत्येक

तत्त्व में, फिर चाहे वह आत्मा हो या पुद्गल, तीन बातें होती हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य । एक तत्त्व है—ध्रौव्य, जो शाश्वत है । दूसरा तत्त्व है—अशाश्वत अर्थात् परिवर्तनशील । उत्पन्न होता है, नष्ट होता है । दूसरी भाषा में कहें तो एक अप्रकम्प तत्त्व है, दूसरा प्रकम्प तत्त्व है । एक शाश्वत और अप्रकम्प हैं, कभी प्रकम्पित नहीं होता । किन्तु साथ में वह प्रकम्पनों से घिरा रहता है । चारों ओर प्रकम्पन ही प्रकम्पन, तरंगें ही तरंगें, ऊर्मियां ही ऊर्मियां उछलती रहती हैं । हमारा पूरा व्यक्तित्व ऊर्मियों का एक जाल है । प्रकम्पन प्रकम्पन से प्रभावित होता है । एक शक्तिशाली व्यक्ति होता है, एक प्राणवान् व्यक्ति होता है, उसकी प्राणधारा के वर्चस्वी प्रकम्पन निकलते हैं तो आस-पास में बैठे सारे लोग प्रभावित हो जाते हैं, प्रकम्पित हो जाते हैं । इसीलिए समूह ध्यान का बड़ा महत्त्व होता है और इसीलिए शासन का भी बहुत महत्त्व होता है । एक शासन है । शासन में एक नेता या साधक शक्तिशाली है तो समूचा शासन उससे प्रभावित हो जाता है । तपस्या, हमारी ज्ञान की आराधना चरित्र और दर्शन की आराधना जितनी शक्तिशाली होती है, अनुशास्ता की जितनी शक्तिशाली होती है, सब उससे प्रभावित हो जाते हैं । आश्चर्य तो यह होता है कि एक शक्तिशाली व्यक्ति हो गया, चला गया, उसकी वाणी बची हुई है, उस वाणी में भी इतनी ताकत होती है कि उससे लोग प्रभावित हो जाते हैं । आचार्य भिक्षु ने कुछ कहा, चले गए । आज दो शताब्दियां बीत गई, किन्तु उनकी वाणी में आज भी चमत्कार है । एक बार मैंने लिखा था नमस्कार हे सन्त ! तुम्हारे शब्दों में कोई चमत्कार है, उनके शब्दों में आज भी चमत्कार है, ऐसा लगता है कि कठिनाई समाप्त हो रही है । चले जाने वाले व्यक्ति के प्रकम्पन भी शेष रह जाते हैं, हजारों वर्षों तक रह जाते हैं । इसीलिए स्थान का महत्त्व होता है, तपोभूमि का महत्त्व होता है, तपस्वी का महत्त्व होता है । जिस स्थान में वह जिया, जिस स्थान में उसने तपस्या की, साधना की, उस स्थान से चले जाने के बाद भी उसके प्रभाव और उसके प्रकम्पन उस स्थान में, उस वातावरण में बच जाते हैं और वे हजारों-हजारों लोगों को लम्बे समय तक प्रभावित करते रहते हैं ।

जिन शासन हमारे सामने एक अद्भुत शासन है । शासन के दो रूप बनते हैं एक है क्रूरता का शासन और दूसरा है चेतना का शासन । बहुत से लोग अनुशासन को लाने के लिए क्रूर शासन में विश्वास करते हैं और बहुत लोग इस बात में विश्वास करते हैं कि शासन आत्मा की सहज, स्वाभाविक प्रेरणा से उद्भूत होता है । क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव—ये चार बातें होती हैं तो

शासन का विकास होता है। क्षान्ति का अर्थ है—सहिष्णुता। जो भी कठिनाई आए, समस्या आए, हमारा ध्येय विचलित न हो। छोटी या बड़ी उलझन आ जाए, उसे हम झेलें, सहन करें, उसे पार करें, उसमें डूब न जाएं। इतनी शक्ति का विकास हो जाए तो उसी का नाम है—क्षान्ति। यही है सहिष्णुता का विकास, जिसकी आज के समाज में सबसे ज्यादा कमी है। आज तो ऐसा लगता है कि सहिष्णुता कोई जानता ही नहीं। किसी की भी परीक्षा करनी हो तो दो शब्द कहकर देख लो, पता लग जाएगा। आज के समाज में सहिष्णुता का तत्त्व विलुप्त होता जा रहा है। हो गया कहे तो भी कोई कठिनाई नहीं होगी। मुक्ति का अर्थ है—निलोभता, अनासक्त भाव। ऋजुता का अर्थ है—मन, वाणी और शरीर की सरलता, वक्रता का सर्वथा वर्जन। मृदुता का अर्थ है—मार्दव, कोमलता। ये चार तत्त्व जिसमें विकसित होते हैं, वह जिन शासन होता है, आत्मा का शासन होता है। इसके विपरीत असहिष्णुता, लोभ, कुटिलता और कठोरता—ये चार तत्त्व जिसमें होते हैं, वह क्रूरता का शासन होता है। वह जिन शासन नहीं, अजिन-शासन होता है। इन दोनों में अन्तर है। लोगों में धारणा हो गई कि भय के बिना शासन नहीं चलता। बात ठीक है, सब लोग समान नहीं होते और भय के बिना शासन नहीं चलता। किन्तु इस बात को भी साथ में स्वीकार करना चाहिए कि भय के साथ जो शासन चलता है, वह लड़खड़ाता हुआ चलता है। वह शासन प्रकाश में तो ठीक चलता है, किन्तु अंधकार में बिलकुल उल्टा चलता है। सामने बिलकुल ठीक चलेगा, पर अंधकार में नहीं। अंधकार का मतलब रात नहीं, अंधकार का मतलब है—जब कोई नहीं देख रहा हो। छिपे में बिलकुल उल्टा चलेगा। जैसे ही भय आता है, सब भूगृह में चले जाते हैं। चीनी भूमिगत हो जाती है, अनाज भूमिगत हो जाता है, आदमी भूमिगत हो जाते हैं और मजे से शासन चलता है। मिथ्या धारणाओं के कारण हमने ऐसा मान लिया। कुछ लोग यह मान बैठे कि जितनी क्रूरता की जाएगी शासन उतना ही ठीक चलेगा।

कन्प्यूशियस अपने शिष्यों के साथ ताई पहाड़ से गुजर रहे थे। देखा, एक स्त्री रो रही है। कन्प्यूशियस उसके पास गए। पूछा—बहन ! रो क्यों रही हो ? उसने कहा—क्या करूं, यह बहुत बड़ा भयानक जंगल है। इस जंगल में चीते बहुत रहते हैं। एक आदमखोर चीते ने मेरे लड़के को खा लिया। कहते-कहते वह और जोरों से रो पड़ी। कन्प्यूशियस ढांडस बंधाते हुए बोले—तुम ज्यादा क्यों रो रही हो ? उसने कहा—इसी चीते ने पहले मेरे पति को खाया। उससे

भी पहले इसी चीते ने मेरे श्वसुर को खाया था। कम्प्यूशियस ने कहा—जब चीते ने तुम्हारे श्वसुर को, पति को और अब पुत्र को खा डाला तो फिर तुम इस घोर जंगल में क्यों रहती हो ? नगर में क्यों नहीं चली जाती ? उसने कहा—मैं नगर में नहीं जाना चाहती, वहां एक क्रूर अत्याचारी का शासन है। यहां चाहे चीता खा खाए, पर शासन तो अत्याचारी का नहीं है। रहूंगी तो यहीं, मैं वहां नहीं जाऊंगी।

हर व्यक्ति घबराता है अत्याचारी शासन से। फिर अत्याचारी का शासन बनता क्यों है ? वह बनता है मिथ्या धारणाओं के कारण। हमने यह मान लिया कि क्रूरता के बिना शासन नहीं चल सकता, डंडे के बिना शासन नहीं चलता, भय के बिना शासन नहीं चलता। भय के बिना प्रीति नहीं होती। ऐसी मिथ्या मान्यताएं हमने बना लीं और उनका प्रयोग कर रहे हैं। करने वालों को शायद अनुभव नहीं होता, पर जिन पर बीतती है उनको मालूम होता है कि यह शासन कैसा है। आदमी सचमुच अनुशासन नहीं चाहता और क्रूर अनुशासन तो चाहता ही नहीं। कभी नहीं चाहता। हम चाहते हैं कि अनुशासन आए। मुझे तो नहीं पता कि अनुशासन की इतनी रट क्यों लगाई जा रही है ? क्यों जरूरी है अनुशासन ? इसीलिए कि एक आदमी बड़ा बना रहे, दूसरा छोटा बना रहे। दूसरा छोटा न हो तो कोई बड़ा नहीं बन सकता और एक आदमी को बड़ा बनने के लिए दूसरे को छोटा बनाना जरूरी है और छोटा बनाए रखने के लिए अनुशासन रखना जरूरी है। यह तो वही बात हुई, जमींदारी रहनी है तो गुलामी की प्रथा भी जरूरी है और गुलाम किसी को रखना है तो फिर कानून भी जरूरी है। बिना कानून के कोई गुलाम नहीं रह सकता, बिना कानून के कोई दास नहीं रह सकता। समाज का जीवन ऐसा जीवन होता है कि पहले एक मिथ्या दृष्टि का निर्माण करो, मिथ्या मान्यता बनाओ और फिर उसके आधार पर जीवन चलाओ। उसमें जब कठिनाई आए तो डंडे का प्रयोग करो। उस कठिनाई को हल करने के लिए उसके सिवा कोई और उपाय नहीं हो सकता। यदि हमारे समाज में ये मिथ्या मान्यताएं नहीं होतीं, गलत धारणाएं हम नहीं बनाते तो हमें डंडे के प्रयोग की आवश्यकता ही न होती। इसीलिए हमने ऐसा मान लिया कि कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं, शेष सारी जनता उस शासन को मानने के लिए पैदा होती है। आज स्थिति यह हो गई है कि शासन किसी को मिल नहीं रहा है। शासन वह होता है, जिसके द्वारा समस्याओं का समाधान हो। यही अर्थ है शासन का। कोई

व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को सीमित करता है तो उसका अर्थ है, उसको प्रतिफल मिले, समस्याएं कम हों। जिसमें समस्या को कम करने की क्षमता हो, वह शासन हो सकता है।

प्रश्न होगा कि क्या जिन शासन में हमारे मानवीय जीवन की समस्याओं को कम करने की क्षमता है? आचार्य ने उत्तर में कहा—हां, वह मानवीय समस्याओं को सुलझाने में सक्षम है। जो लोग जिन शासन की शरण में आते हैं, वे संसार-सागर को तर जाते हैं। बहुत महत्वपूर्ण बात है संसार सागर को तर जाना। आज की भाषा में कहूं तो यही है समस्याओं का पार पा जाना। समस्याओं का आर होता है तो पार भी होता है। समस्या क्या है? समस्या एक नहीं, हजारों हैं। उन समस्याओं में एक बड़ी समस्या है—बीमारी। बीमारी तीन प्रकार की होती है—शरीर की बीमारी, मन की बीमारी और आत्मा की बीमारी। आध्यात्मिक रोग, मानसिक रोग और शारीरिक रोग। यह जिनवचन इन तीनों बीमारियों के लिए औषधि है, दवा है, बशर्ते कि कोई लेना जाने। जिनवाणी के आधार पर शरीर के रोगों की चिकित्सा की जा सकती है, मन और भावना के रोगों की चिकित्सा की जा सकती है। कषाय भावना का रोग है। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय—ये सब भावना के रोग हैं, मानसिक उलझनें हैं। सुश्रुत ने व्याधियों का जो वर्गीकरण किया है, उसमें एक है—मानसिक बीमारी। मानसिक बीमारी का वही लक्षण दिया है, जो आर्त्तध्यान का लक्षण है। इष्ट का वियोग न हो जाए और अनिष्ट का योग न हो जाए—इस प्रकार की चिन्ता जिसके मन में जाग जाती है, वह मानसिक रूप से बीमार हो जाता है। जो व्यक्ति निरन्तर यह सोचता रहे कि यह वस्तु मिली है, कहीं चली न जाए। धन मिला है, कहीं चला न जाए। इतना बड़ा परिवार मिला, कहीं समाप्त न हो जाए। इतना पदार्थ मिला है, कहीं चला न जाए और कहीं पड़ोसी खराब न आ जाए। कहीं चोर न आ जाए। कोई लुटेरा रास्ते में न मिल जाए। कोई ऐसा अधिकारी न आ जाए जो हमारे दो नम्बर के खाते पकड़ ले। प्रिय का वियोग न हो, अप्रिय का योग न हो, यह निरन्तर चिन्ता रहती है तो मानसिक बीमारी बन जाती है। इसे धर्म की भाषा में कहा जाता है—मानसिक रोग। आज सारा समाज इस मानसिक रोग से पीड़ित है। लोग आश्चर्य करते हैं कि आज हार्ट ट्रबल या हार्ट अटैक इतना ज्यादा क्यों बढ़ रहा है? हृदय रोग की बातें तो इतनी नहीं सुनी जाती थीं। आज तो छोटे-छोटे लोगों को भी हार्ट अटैक होने लगा है। हार्ट अटैक क्यों नहीं होगा? जब मन के रोगों

को समाज इतना पालता जा रहा है तो बेचारा हार्ट भी कब तक साथ देगा । हार्ट को चाहिए पूरा विश्राम । थोड़ा विश्राम तो वह अपने आप करता है । प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था बनाई है कि एक बार वह धड़कता है तो दूसरे क्षण में वह थोड़ा विश्राम कर लेता है । फिर धड़कता है तो फिर विश्राम कर लेता है । पर इतना ही पर्याप्त नहीं, उसे और ज्यादा विश्राम चाहिए । आज का आदमी तो खाली रहता ही नहीं । सोता भी है तो समस्याओं को लेकर सोता है, सपनों के साथ सोता है । कुछ लोग तो शायद नींद से उठते हैं तो भी सपनों के साथ उठते हैं । इतने सपने, इतनी कल्पनाएं, इतना भय सिरहाने लेकर सोते हैं कि जागने पर भी उनसे मुक्त नहीं हो पाते । सोते हैं तब भी भय को सिरहाने लेकर सोते हैं और जागते हैं तो सबसे पहले भगवान् का दर्शन उसी भय का होता है । उस मंगल प्रभात में मंगलमय देवता सामने आता है तो वह भय और चिन्ता का ही आता है, फिर हार्ट टूबल क्यों न हो, हृदय का आघात क्यों न हो ? भावना की बीमारी है, मन की बीमारी है तो शरीर की बीमारी न हो, यह कैसे संभव हो सकता है ? यह तो स्वाभाविक ही है । और शरीर की बीमारी को मिटाने के लिए आज चिकित्सा की पद्धति भी ऐसी मिल गई जो यह चाहती है कि बीमारी का चक्रव्यूह टूटे नहीं, खंडित न हो । एक बीमारी को मिटाने के लिए इतनी तेज दवा दी जाए कि दूसरी बीमारी पैदा न हो जाए । पहली चली जाए, दूसरी पैदा हो जाए । बराबर संतुति चले । कहीं ऐसा न हो कि संतति खंडित हो जाए । भले ही बीमारी को गोद लेना पड़े, पर छोड़ना नहीं । क्योंकि नाम बराबर चलना चाहिए । आप लोग भी नाम छोड़ना नहीं चाहते । वंश-परम्परा को चलाने के लिए पुत्र नहीं होता तो जैसे-तैसे किसी को गोद ले लेते हैं कि नाम चले । नाम बराबर चलता रहेगा, अमर रहे, व्यक्ति मरे नहीं । बड़ा डर लगता है मरने से । तो भला बीमारी क्यों नहीं चाहेगी कि मैं भी अमर रहूँ ? जब भावना आप में है तो आपकी भावना बीमारी में भी होगी । एक ऐसा चक्र चलता है कि कहीं अंत नहीं होता । जिनवचन इसके लिए एक औषधि है ।

चरक ने लिखा है—जो रोग को समाप्त करे और नया रोग पैदा न करे, उसका नाम चिकित्सा है । जिनवचन एक ऐसी दवा है जो बीमारी को समाप्त करती है और नयी बीमारी को पैदा नहीं होने देती । बुढ़ापा, जन्म और मरण—ये तीन सबसे बड़ी बीमारियां हैं । आदमी बूढ़ा बनता है जब कि बूढ़ा बनना कोई चाहता नहीं । आदमी मरता है जब कि मरना भी कोई चाहता नहीं । इसलिए बूढ़ा

होने का डर रहता है और मरने का तो सबसे बड़ा डर रहता है। जन्मने का डर नहीं लगता क्योंकि इसके बारे में वह जानता ही नहीं। किन्तु जन्म लेना भी एक बीमारी मानी जाती है। चौथी बीमारी है—शरीर की। चार दुःख माने जाते हैं—जन्म, मरण, जरा और व्याधि। जिनवचन में बुढ़ापे को हरण करने की क्षमता है। जिनवचन मृत्यु का भी हरण कर सकता है। रोग का निवारण कर अजेय और अमर बना सकता है। ऐसा लगता है कि यह अतिशयोक्ति है। भला जिनवचन बुढ़ापे का हरण कैसे करेगा? यदि ऐसा होता तो जिनवचन का अखंड पाठ कर सारे बूढ़े जवान बन जाते। कैसे हरण होगा? यदि मरण का हरण हो सके तो शायद जो लोग मरने के निकट हैं, वे तो जरूर अखंड पाठ शुरू कर देंगे कि अब तो मरेंगे नहीं, अमरता का पट्टा हमें मिल गया। जिनवचन से यदि बीमारी समाप्त होती तो सारे दवाखाने बंद हो जाते और वहां जिनवचन का अखंड पाठ चलने लगता। क्या यह अतिशयोक्ति नहीं है? क्या लिखने वालों ने कोई ऐसी बात नहीं लिख दी जो अस्वाभाविक है? ऐसा सहज ही एक प्रश्न उभरता है। किन्तु हम थोड़ा गहराई में जाएं तो यह बात सत्य प्रतीत होगी। स्वयं मेरे मन में यह प्रश्न बहुत बार उठता था कि योग के ग्रन्थों में जहां भी देखो लिखा मिलता है यह प्रयोग करो तो 'अजरामरो भविष्यति' अजर-अमर हो जाओगे। यह लिखने वाले भी मर गए। 'अजरामरो भविष्यति'—लिखने वाले स्वयं तो बूढ़े होकर मर गये, फिर कैसे उनकी बात को सच मानें। शब्दों में ही रहें तो बड़ा विरोधाभास लगता है और हृदय तक पहुंचने का प्रयत्न करें तो बहुत सार भी उपलब्ध हो जाता है। अजर और अमर होगा—इसका तात्पर्य यह नहीं कि कभी बूढ़ा नहीं होगा और नहीं मरेगा। इसका मतलब यह है कि बुढ़ापे को भी हर्ष के साथ स्वीकार कर लेगा और बुढ़ापे के जो दुःख होते हैं वे दुःख नहीं होंगे। मृत्यु को भी हर्ष के साथ स्वीकार करेगा और मरण का भय नहीं सताएगा। बुढ़ापा भी सुखद होगा और मरण भी सुखद होगा, अधिक लाभदायी बन जाएगा। इतना तो निश्चित ही है कि ज्यादा बूढ़ा वह बनता है जो हर क्षण तनाव से भरा रहता है। आज मनोवैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि बुढ़ापा तनाव के कारण शीघ्र आता है। जिह व्यक्ति में जितना अधिक मानसिक तनाव होता है वह उतना अधिक बूढ़ा होता है। बूढ़े होने का लक्षण क्या है? कुछ तो शारीरिक लक्षण होते हैं बुढ़ापे के, जैसे—दांत गिर जाना, बाल सफेद हो जाना, ये बुढ़ापे के लक्षण हैं। कुछ मानसिक लक्षण होते हैं, जैसे—निराश हो जाना, श्रवण-शक्ति कम हो

जाना, पुरानी बातें याद करना और याद कर दुःख या सुख का अनुभव करना । एक समय हम ऐसा करते थे, हमारे समय में ऐसा होता था, अतीत को स्मरण करना और उस पर सिर धुनना । बातें याद करते जाना, स्मृतियों का चक्का चलते रहना, स्मृतियां मुक्त होती रहें । किन्हीं स्मृतियों के आधार पर आदमी हंसता रहे और किन्हीं स्मृतियों के आधार पर आदमी रोता रहे—यह सब बुढ़ापे का मानसिक लक्षण है । जिस व्यक्ति में काम करने की क्षमता होती है, वह कभी बूढ़ा नहीं होता ।

एक बार राजलदेसर में साधु-साध्वियों की गोष्ठी थी । गोष्ठी में लम्बी चर्चा चली । आचार्यवर ने कहा—‘महाप्रज्ञ ! तुम युवाचार्य हो गए इसलिए यह अपने आप ही सिद्ध हो गया कि मैं वृद्धाचार्य हो गया । पर मैं काम करने की दृष्टि से वृद्ध नहीं हूँ । काम करता रहूँगा । तुम अपना काम करो, मैं अपना काम करूँगा । तुम्हें इस काम में अभी नहीं डालूँगा । तुम्हारे कार्य में व्यवधान मैं नहीं करूँगा । तुम युवाचार्य हो गए इसलिए आचार्य का भी काम करो और उपाध्याय का भी काम करो । ये दोनों काम तुम्हारे चलें, चलते रहें क्योंकि इनकी आज बहुत जरूरत है । मैं अपना काम करता रहूँगा, तुम्हें अभी इन कामों में नहीं डालूँगा । इसका मतलब है कि मैं काम से मुक्त नहीं हो रहा हूँ ।’

जो आदमी काम से मुक्त हो गया, समझ लो अनायास ही वह बूढ़ा हो गया । आज की भाषा में रिटायर्ड होने का मतलब है—आधा बूढ़ा हो जाना, पचास प्रतिशत बूढ़ा बन जाना । वह सोचता है—अब तो मैं बेकार हूँ । इस ‘बेकार’ शब्द ने ही एक ऐसा प्रभाव पैदा कर दिया कि जो 55 वर्ष या 58 वर्ष का होता है, जिसमें कर्मजाशक्ति होती है, काम करने की क्षमता होती है, उससे यह कहा जाए कि अब तुम यह काम करो तो वह यही कहेगा कि अब मुझसे यह काम नहीं होगा, इतना काम करूँगा तो मेरी शक्ति और घट जाएगी । काम करने से तो शक्ति घटती नहीं, पर वह चिन्ता अवश्य ही शक्ति को क्षीण कर देती है । डॉ. नथमल टांटिया इसके उदाहरण हैं । इन पर वह रिटायरमेंट का असर नहीं हुआ । दिन में आठ घंटा, दस घंटा और बारह घंटा भी कोई काम लेने वाला हो तो काम दे देते हैं, पढ़ लेते हैं । यह अनुभव नहीं करते कि मेरी शक्ति क्षीण हो जाएगी ।

यह हमारा गलत चिन्तन है । जिससे शक्ति बढ़ती है, उसे हमने शक्ति क्षीण होने का साधन मान लिया और यह बुढ़ापे की चिन्ता जो वास्तव में शक्ति

को क्षीण करती है उसे पाल लिया और मन ही मन उसे कह दिया—अजर-अमर रहो तुम, हमारे साथ निरन्तर बैठो । यह मानसिक चिन्ता, मानसिक तनाव बुढ़ापा लाता है । जिनशासन में जाने वाला व्यक्ति मानसिक चिन्ताओं, मानसिक तनावों से नहीं घिरता, इसलिए उसका बुढ़ापा भी दुःखदायी नहीं होता । यों तो वह देरी से आता है । शारीरिक बुढ़ापा आता है तो भी मानसिक बुढ़ापा उसे नहीं सताता ।

जिनवाणी के द्वारा व्याधियां कैसे मिटती हैं ? किस प्रकार रोग मिटाए जा सकते हैं ? कितनी बड़ी वह चिकित्सा है ? अगर इसे समझ लिया जाए, इसका उपयोग किया जाए तो डॉक्टरों को बार-बार बुलाने की जरूरत नहीं रहेगी । बुलाना तभी पड़ेगा जब कोई अनिवार्यता की स्थिति आ जाए । दवाइयों का भारी-भरकम सूचीपत्र लेकर मेडिकल की दुकानों के चक्कर नहीं लगाने पड़ेंगे । आज का विश्वास हमारा ऐसा हो गया कि जो डॉक्टर दवाइयों की लम्बी तालिका बनाकर नहीं देता उसे हम अच्छा डॉक्टर ही नहीं समझते । लुधियाना के सी.एम.सी. हॉस्पिटल के मुख्य फिजीशियन ने एक दिन मुझसे कहा—महाराज ! मैं दवाई में विश्वास नहीं करता । मैं मानता हूँ कि दवाइयां बहुत नुकसान पहुंचाती हैं । मैं एक दवा लिखता हूँ रोगी को । मैंने कहा—आपका यह विश्वास ? वे बोले—मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि दवाइयां बहुत खतरनाक होती हैं । इसीलिए बहुत सारे रोगियों को तो यही कह देता हूँ कि जाओ, तुम्हें दवा की कोई जरूरत नहीं, भोजन बदल दो, ठीक हो जाओगे । किसी-किसी को अनिवार्य समझकर सिर्फ एक दवा लिख देता हूँ । किन्तु भरोसा नहीं होता रोगी को । वह छोटे डॉक्टरों के पास जाता है कि केवल एक दवा से हम कैसे ठीक होंगे । डॉक्टर साहब के पास गए पर उन्होंने तो कोई दवा ही नहीं लिखी । वह समझदार डॉक्टर दस-बीस दवाइयां लिख देता है और पांच सौ-हजार रुपयों का बिल बना देता है । मरीज को भी डॉक्टर की योग्यता पर विश्वास हो जाता है । वह सभी से कहने लगता है कि ये डॉक्टर साहब बड़े अच्छे हैं । यह है आज की मनःस्थिति, हमारी दोषपूर्ण आस्था । हमारी आस्था बदले, जिनवाणी में बीमारियों को मिटाने की जो क्षमता है उसे हम समझें और उसका प्रयोग कर स्वास्थ्य-लाभ करें ।

जिन शासन : २

एक गोष्ठी का आयोजन था। प्रिंसिपल, प्रोफेसर और लेक्चरर उपस्थित थे। उन्होंने एक प्रश्न उपस्थित किया, तपस्या है यथार्थ और महावीर को हमने आज यथार्थ के रूप में सुना। यह ठीक है कि हम यथार्थ को आंखों से ओझल न करें। समस्या है—रोटी, कपड़ा और मकान की। आज पानी की भी समस्या बन गई, बिजली की भी समस्या बन गई, ऊर्जा की समस्या बन गई और किरोसिन तेल जैसी वस्तु की भी समस्या बन गई। समस्या है यथार्थ की और हम बात करते हैं धर्म की। धर्म से तो रोटी की समस्या हल नहीं होगी, यथार्थ की समस्या तो सुलझेगी नहीं। फिर क्या होगा? ये बहुत सारे प्रश्न उनके मन में उभर गए या कल मैंने चर्चा में उभार दिए। उसी चर्चा के सन्दर्भ में उन्होंने प्रश्न प्रस्तुत किए। सचमुच विकट प्रश्न है। एक ओर धर्म का प्रश्न, दूसरी ओर जीवन का प्रश्न। आदमी तो पूरा जी भी नहीं पा रहा है और हम धर्म की चर्चा करते हैं। उन लोगों को तो पता नहीं चलता जिन्हें पेट भर रोटी मिल जाती है किन्तु उन लोगों को वास्तव में पता चलता है जिन्हें खाने के लिए हमेशा चिन्तित रहना पड़ता है। सुबह होती है तो शाम के लिए फिर चिन्तित और शाम होती है तो फिर सुबह के लिए चिन्तित। उन्हें वास्तव में पता चलता है कि जीवन कैसे जीया जाता है। एक बार डॉ. राममनोहर लोहिया ने कहा—आप मेरे साथ गांव में चले, फिर मैं आपको बताऊं कि वास्तविकता क्या है। बड़े दर्द से उन्होंने कहा, कहा ही नहीं बल्कि गुरुदेव से अनुरोध किया कि मुनि नथमलजी को आप मेरे गांव में भेजे। मैं उन्हें वस्तुस्थिति बताना चाहता हूँ। इतना आग्रह किया तो गुरुदेव ने कहा कि समय होगा तो संभव हो सकेगा। लोहियाजी ने बताया कि हमारे हिन्दुस्तान में सोलह करोड़ आदमी (पचीस-तीस वर्ष पहले की बात है) ऐसे हैं, जिन्हें पूरी रोटी भी नहीं मिलती। बड़ा विकट प्रश्न है। आज सारे संसार में इस प्रश्न पर बहुत गम्भीरता से चिन्तन हो रहा है। कुछ पश्चिमी दार्शनिकों ने जब इन यथार्थ समस्याओं पर विचार किया तो इस प्रश्न को और उभरने का मौका मिल गया। साम्यवाद की प्रणाली आयी, समाजवादी जीवन की प्रणाली आयी

और कुछ सोचने को मिला। आज सारे संसार में एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है कि धर्म हमारे लिए जरूरी है या रोटी? एक पलड़े पर धर्म है और दूसरे पलड़े में रोटी है। हम महावीर की चर्चा करें, महावीर की जयन्ती मनाएं, धर्म की चर्चा करें, धर्म का समारोह मनाएं तो इन दोनों के बीच में खड़ा रहना होगा। एक पलड़े में धर्म होगा, महावीर होंगे या कोई और अवतार होगा और दूसरे पलड़े में रोटी-पानी होगी। हम दोनों के सन्दर्भ में किसकी चर्चा करें? क्या करें? यदि रोटी के सन्दर्भ में हम धर्म की चर्चा करते हैं तो ऐसा लगता है कि रोटी की समस्या है ही नहीं।

मैंने प्रश्न के उत्तर में कहा—अपना-अपना दृष्टिकोण है। एक ही बात को हम दो दृष्टियों से ही नहीं, हजार दृष्टियों से देख सकते हैं। द्रष्टा का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। राम ने हनुमान से पूछा कि जहां सीता रहती थी वह वाटिका कैसी थी? वाटिका में क्या था? उसके पेड़ पौधे कैसे थे? उसके फूल कैसे थे? हनुमान ने सारा वर्णन किया कि फूलों की बगिया थी, फूल थे, सारे फूल लाल ही लाल थे। वह लाल फूलों की बगिया थी। सीता से भी पूछा। उन्होंने भी कहा—सही बात है। हनुमान का सारा वर्णन सही है, पर एक बात वह गलत कह रहा है। फूल लाल नहीं, फूल बिलकुल सफेद थे। वह सफेद फूलों की बगिया थी। कितना बड़ा अन्तर? दोनों प्रत्यक्षदर्शी। सीता भी प्रत्यक्षदर्शी और हनुमान भी प्रत्यक्षदर्शी। सुनी-सुनाई बात झूठी हो सकती है पर आंखों-देखी बात और वे भी दोनों आंखों से देखने वाले। हनुमान कहते हैं फूल थे लाल और सीता कहती हैं फूल थे सफेद। बहुत बड़ा अन्तर है। राम तो द्रष्टा थे। उन्होंने कहा—बिलकुल ठीक है। सीता ने कहा—यह गलत कह रहा है। राम ने कहा—यह बिलकुल ठीक कह रहा है, गलत नहीं कह रहा है। सीता घोर आश्चर्य में पड़ गई। मैं वहां रही, फूलों को देखा और राम मुझे झूठा बता रहे हैं, हनुमान की बात को सच कह रहे हैं। यह कैसे? सीता ने पूछा—दोनों ठीक कैसे हो सकते हैं? राम ने कहा—तुम शान्त थीं। तुमने शान्त आंखों से फूलों को देखा, इसलिए तुम्हें फूल सफेद ही दिखाई दिए। हनुमान ने क्रोध भरी आंखों से, उत्तेजना भरी आंखों से फूलों को देखा है इसलिए उसे लाल ही दिखाई दिए, सफेद कैसे दिखाई देते? दोनों ठीक ही कहते हो।

एक बात को अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है। देखने का कोण एक ही नहीं होता, देखने की दृष्टि एक नहीं होती। अगर हम व्यापकता में जाएं,

अपनी चेतना को विकसित करें तो एक घटना को, एक तथ्य को अनंत-अनंत दृष्टियों से देख सकते हैं। जब अनंत दृष्टियों से देखते हैं तब हमें सचाई का पता चलता है। एक दृष्टि से देखते हैं तब सचाई का पता नहीं चलता। कहते तो हैं, मैं सबको एक आंख से देखता हूँ, पर एक आंख से देखना अच्छा थोड़े ही होता है। यह तो बड़े गर्व के साथ कहा जाता है कि सबको एक आंख से देखता हूँ। ठीक है, जिसे दूसरी आंख प्राप्त ही नहीं तो बेचारा दोनों से देखेगा क्या? एक से ही देखेगा। पंजाब का राजा रणजीत सिंह। एक मुसलमान कुरान शरीफ लिखकर लाया। बहुत बड़ी और कीमती। मंत्री को दिया। मंत्री ने देखा—बहुत सुन्दर लिखा है। मूल्य बहुत अधिक मांगा गया, कई हजारों में। मंत्री ने अस्वीकार कर दिया। सम्राट् ने देखा और कहा—ऐसा नहीं हो सकता। मूल्य देकर उसे खरीद लिया। लोग बड़े आश्चर्य में पड़े। उन्होंने कहा—महाराजप्रवर ! यह आपने क्या किया? आप तो हिन्दू हैं, सिख हैं, इस्लाम धर्म को मानने वाले नहीं और एक इस्लामी ग्रन्थ के लिए आपने इतनी बड़ी कीमत चुका दी, यह कैसे किया? राजा ने कहा—‘मैं सबको एक ही आंख से देखता हूँ।’ बिलकुल ठीक बात थी। क्योंकि उन्हें एक ही आंख उपलब्ध थी, दूसरी थी ही नहीं। प्रकृति की देन थी ऐसी। एक से देखना ही कोई बहुत अच्छी बात नहीं होती और अनेक से देखना कोई बुरी बात नहीं होती। एक से देखना अच्छा हो सकता है, किन्तु अनेक से देखना बहुत अच्छा। हम अनेक दृष्टियों से देखें तो पता चलेगा कि रोटी की समस्या तो वास्तव में समस्या है ही नहीं। यह समस्या मनुष्य ने पैदा की है। पदार्थ के जगत् में कोई समस्या नहीं है। समस्या चेतना के जगत् में है। मनुष्य ने ही इस समस्या को जन्म दिया है। मेरा निश्चित विश्वास है कि यदि मानसिक समस्याएं नहीं होती तो दुनिया में रोटी की समस्या कभी पैदा ही नहीं होती। रोटी की समस्या तभी है जब आदमी स्वयं समस्या से घिरा हुआ हो, अपनी मानसिक समस्याओं से उलझा हुआ हो। उसमें क्रोध है, अहंकार है, कपट है, वह छिपाना जानता है। प्रचुर पदार्थ हैं, पर छिपा देता है, सब गायब हो जाते हैं। उसमें लोभ है, वह संग्रह करना जानता है। आज यदि संग्रह की समस्या न हो तो मनुष्य के लिए रोटी की कोई समस्या नहीं है। यह समस्या संग्रहखोरों के द्वारा पैदा की गई समस्या है। यह समस्या आलसी और जमाखोरों के द्वारा पैदा की गई समस्या है। वास्तव में सबसे बड़ी समस्या हमारी मानसिक समस्या है। कुछ शाश्वत सत्य होते हैं, यूनिवर्सल लॉ होते हैं, और उनके आधार

पर समाज का जीवन चलता है। शाश्वत नियमों की अवहेलना कर मनुष्य अपना कानून, अपना विधान और अपनी आचार-संहिता बनाता है, तब वास्तव में समस्याएं पैदा होती हैं। जो लोग इन शाश्वत नियमों को मानकर चलते हैं, उनके लिए समस्याएं पैदा ही नहीं होती। मैं मानता हूँ धर्म और कुछ नहीं, एक शाश्वत नियम की व्याख्या है। धर्म जागतिक नियम है, सार्वभौम नियम है। इस नियम की कोई अवहेलना प्रकृति में नहीं होती। इस नियम के आधार पर यदि हमारे जीवन की यात्रा चले तो रोटी की समस्या पैदा नहीं होगी। हमने कृत्रिम समस्याएं पैदा की हैं। समस्या वास्तव में कृत्रिम हैं। मूल समस्या है मन की समस्या, इन्द्रियों की उच्छृंखलता, कषाय की प्रबलता, रागद्वेष और स्वामित्व की भावना तथा अहंकार की प्रबलता—ये ही वास्तव में सारी समस्याएं हैं। यदि इन समस्याओं का समाधान होता है तो यथार्थ लगने वाली समस्याएं अपने आप सुलझ जाती है, किन्तु हमने द्वय को सुलझाने का प्रयत्न किया, प्रथम की ओर ध्यान नहीं दिया। एक महान् इतिहासकार ने लिखा है कि रोटी की समस्या में यदि मनुष्य डूबा रहे तो यह सबसे बड़ी मूर्खता होगी। समस्या तो वास्तव में दूसरी है। एक महायुद्ध होता है और भयंकर बीमारी की स्थिति आ जाती है। सब लोग जानते हैं कि द्वितीय महायुद्ध नहीं हुआ था तब पदार्थों की कीमतें क्या थीं और कितनी समस्याएं थीं तथा द्वितीय महायुद्ध के बाद कितनी समस्याएं आयीं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व एवं उत्तरकालीन लोग जानते हैं कि कितना अन्तर आया है मूल्यों में और परिस्थितियों में। एक बार युद्ध होता है तो हजारों कठिनाइयां पैदा हो जाती है। हम गहराई से चिन्तन करें कि वास्तव में समस्या मानसिक है या रोटी की समस्या है? मानसिक समस्या का समाधान धर्म हो सकता है, महावीर हो सकते हैं, समाजवादी और साम्यवादी प्रणालियां कभी नहीं हो सकतीं।

आज के संसार में सबसे बड़ी समस्या है—भय की समस्या। एक है असहिष्णुता की समस्या, उत्तेजना की समस्या और दूसरी है भय की समस्या, बीमारी से समस्या। इन बढ़ती हुई बीमारियों से डॉक्टर परेशान हैं। आज कितना फैला है डॉक्टरों का जाल। पुराने जमाने में इतने वैद्य और डॉक्टर कहाँ थे? मुश्किल से बड़े गांवों में एक मिलता और छोटे गांवों में तो होता ही नहीं था। कहाँ थीं इतनी दवाइयां और कहाँ थे इतने साधन? तो फिर साथ-साथ चलना होगा। बीमारियां नहीं थीं क्योंकि बीमारियों के कारण नहीं थे। यद्यपि पानी साफ नहीं था, और भी पदार्थ अच्छे नहीं रहे होंगे, फिर भी मनुष्य की रोग-प्रतिरोधक

शक्ति इतनी प्रबल थी कि बीमारियां आतीं—शरीर तक पहुंचती और शरीर से इतना आक्रमण होता कि वे वापस चली जातीं। आज मनुष्य की रोग-निरोधक शक्ति इतनी कमजोर हो गई कि बीमारी पड़ोसी के होती है, फिर भी पहले उस तक पहुंच जाती है। ऐसा क्यों हुआ ? इसलिए कि भय बढ़ा है। आज सारा जीवन भय से भरा हुआ है। सारा जीवन कृत्रिम बन गया। साधन भी कृत्रिम, श्वास भी कृत्रिम, बहुत से लोगों का तो हार्ट भी कृत्रिम, और भी बहुत सारे अवयव कृत्रिम या बनावटी मिल जाएंगे।

खलील जिब्रान एक बहुत बड़े विचारक हुए हैं, बहुत बड़े दार्शनिक। एक बार वे खेत में गए। देखा—एक हड़प्पा खड़ा है (बनावटी आदमी)। उसके पास जाकर बोले—भैया ! तुम चौबीस घंटे खड़े रहते हो, कभी थकते नहीं ? हड़प्पे ने उत्तर दिया कि ये जो पक्षी आते हैं इन्हें उड़ाने में मुझे बड़ा मजा आता है। खलील जिब्रान बोला कि आदमी को डराने में तो मुझे भी मजा आता है। हड़प्पे ने कहा—क्या तुम भी मेरी तरह बनावटी आदमी हो ?

सचमुच आज आदमी बनावटी बन गया। सारी कृत्रिमता, सारी औपचारिकता, वास्तविकता ढूँढने पर मुश्किल से ही मिलती है। इतना कृत्रिम जीवन हो गया, भयभीत जीवन हो गया कि बीमारी नहीं होगी तो क्या होगा ?

हमारी चर्चा चल रही थी, जिनवचन एक दवा है, एक औषधि है बीमारियों की। ध्यान से सुनें और एक बात पर विशेष ध्यान दें कि शरीर में कोई बीमारी हो तो पहले डॉक्टर को न बुलाएं, वैद्य को न बुलाएं, किसी को न दिखाएं। पहले एकान्त में बैठकर पांच मिनट कायोत्सर्ग करें, बिलकुल स्थिर और शान्त होकर आत्मालोचन करें कि मैंने कौन-सी विकृति की जिससे कि यह बीमारी हुई है। कुछ बीमारियां क्रोध के कारण पैदा होती है। कुछ बीमारियां कपट और माया के कारण पैदा होती हैं, कुछ बीमारियां लोभ के कारण तो बहुत सारी बीमारियां इन्द्रियों के असंयम के कारण पैदा होती है। हम पहले अपना आत्मालोचन करें एकान्त में शान्ति के साथ कि मैंने कौन-सा दोष किया है जिसके कारण यह बीमारी हुई है। डॉक्टर को बहुत बुलाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। हम भी बड़े विचित्र आदमी हो गए कि होता कुछ ही है और करते कुछ ही हैं। बीमारी होती है अपनी मानसिक दुर्बलताओं के कारण और चक्कर लगाते रहते हैं डॉक्टरों और वैद्यों के। उनके पीछे दौड़ते जाते हैं, दवाई लेते जाते हैं, बीमारी का पता ही नहीं चलता।

पुराने जमाने की बात है—कोई पाहुना आया । खाने को अनार ले लिया हाथ में । देखा—बीज ही बीज । सब फेंक दिया, छिलका खाने लगा । खारा लगा । यह क्या ? इससे अच्छा तो हमारा मतीरा होता है । थोड़े बीज होते हैं, आसानी से निकाल दिए जाते हैं । यह तो सारा बीजों से ही भरा है । उससे पूछा गया—फल खा लिया ? खा तो लिया पर यह कैसा फल दिया मुझे ? इससे तो हमारा मतीरा ही अच्छा होता है । उसमें तो बीज बीच में होते हैं । मैंने तो इसके सारे बीज फेंक दिए और शेष खाया तो कड़वा लगा ।

लगता है कुछ ऐसी अजीब स्थिति हमारी भी हो गई है कि बीजों को तो फेंकते चले जा रहे हैं और छिलके को खा रहे हैं । मानसिक समस्याओं को सुलझाने की जो बातें हैं उन्हें तो अनदेखा करते जा रहे हैं और पीछे जो कड़वाहट है उसे खाते चले जा रहे हैं । हम कुछ आत्मालोचन करें, कुछ विचार करें, विमर्श करें । जो समस्या पहली नहीं है उसे पहली नहीं मानें और जो पहली है उसे दूसरी न मानें । आज की सारी समस्याओं में मुझे एक समस्या बड़ी लगती है—दृष्टि का विपर्यय । मिथ्यादृष्टि हमारी बन गई । उसका परिणाम यह हुआ कि जो मुख्य है उसे गौण मान रहे हैं और जो गौण है उसे मुख्य मान रहे हैं । बहुत परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं, केवल इतना-सा परिवर्तन हम करें कि मुख्य को मुख्य मानें और गौण को गौण मानें । प्रथम को प्रथम मानें, द्वयं को द्वयं मानें । इतना-सा सामान्य परिवर्तन हो जाता है तो मेरा विश्वास है कि यथार्थ मानी जाने वाली समस्याएं अपने आप सुलझ जाएंगी ।

हम सम्यक्दृष्टि बनें । जिनवाणी का सबसे पहला औषध-तत्त्व है—सम्यक्दृष्टि । यह सबसे बड़ी दवा है । प्राकृतिक चिकित्सा में जब तक एनिमा नहीं दिया जाता, पेट की सफाई नहीं होती तब तक और दवा नहीं दी जाती । अनिवार्य है पेट की सफाई । विजातीय तत्त्व को बाहर निकाल देना, बाहर फेंक देना । हमारे भीतर मिथ्या तत्त्व का कितना विजातीय तत्त्व भरा पड़ा है । हम सम्यक्दृष्टि बनें, अपने को सम्यक्दृष्टि करें । यथार्थ को यथार्थ मानें । इतना-सा परिवर्तन हो जाए तो जिनवचन एक दवा है, एक औषधि है कि हम वर्तमान की समस्याओं को सुलझा सकते हैं, हमारी बीमारियों को मिटा सकते हैं । न केवल मानसिक बीमारियों को मिटा सकते हैं बल्कि शारीरिक बीमारियों को भी मिटा सकते हैं । एक आदमी नींद लेने के लिए गोलियां लेता है, मन की शान्ति के लिए गोलियां लेता है । अमेरिका जैसे देश में अरबों रुपयों की गोलियां बिकती हैं । आपको जरूरत क्या है ? आप प्रयोग करें जिनवाणी का ।

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्डियो ।
संति संतिकरे लोए, पत्तो गई मणुत्तरं ॥

इतना बड़ा ट्रैक्विलाइजर है यह श्लोक कि भयंकर अनिद्रा के रोगी को भी नींद आ जाए । हम ध्वनि को, ध्वनि के चमत्कारों को भूल गए । हजारों दवाइयाँ जो काम नहीं कर सकतीं वह काम एक मंत्र का उच्चारण कर सकता है । हम अपनी दृष्टि को बदलें, उसे सम्यक् करें और सोचें । जिस महामंत्र का हम दिन-रात प्रयोग करते हैं और 'एसो पंच गमोक्कारो, सच्च पाव पणासणो' बोलते हैं—यह मंत्र सब पापों का नाश करने वाला है तो बीमारी फिर कैसे बच जाएगी । सोचते जा रहे हैं, समझ नहीं पा रहे हैं, आस्था का निर्माण नहीं हो रहा है । आस्था का अनुबन्ध करें और दृष्टि को सम्यक् करें तो मुझे लगता है कि जिनवाणी परम औषधि है हमारे दुःखों को मिटाने की ।

जीव : स्वरूप और लक्षण

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। उसमें जीव और अजीव दोनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत है—न अजीव से जीव उत्पन्न होता है और न जीव से अजीव। दोनों अनादि-अनन्त द्रव्य हैं; दोनों के बीच एक शाश्वत भेदरेखा है—चैतन्य। जीव में चैतन्य होता है, अजीव में नहीं। यह चैतन्य ही जीव की स्वतंत्र सत्ता का हेतु है।

जगत् में दो प्रकार के तत्त्व हैं—अमूर्त और मूर्त। द्रव्य का मूर्तीकरण वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और आकार के द्वारा होता है। परमाणु पुद्गल में ये सभी होते हैं, इसलिए वह मूर्त द्रव्य है। जीव में वर्ण आदि नहीं है, इसलिए वह अमूर्त द्रव्य है।

अमूर्त द्रव्य अदृश्य होता है। जो मूर्त होता है वह सब दृश्य नहीं होता, किन्तु जो दृश्य होता है वह मूर्त होता ही है। सूक्ष्म परिणति वाला मूर्त द्रव्य दृश्य नहीं होता। दृश्य वही होता है, जिसकी परिणति स्थूल हो जाती है। जीव अपूर्त द्रव्य है, इसलिए वह इन्द्रिय द्वारा दृश्य नहीं है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा गम्य भी वह नहीं है। उसका गुण है—चैतन्य। वह भी अदृश्य है। वह कार्य के द्वारा जाना जा सकता है; किन्तु इन्द्रिय द्वारा उसका बोध नहीं होता। जीव के अस्तित्व की अस्वीकृति का सबसे बड़ा हेतु है—उसकी अमूर्तता। भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों से कहा—जैसे अरणी में अग्नि उत्पन्न होती है, दूध में घी, तिलों में तेल, वैसे ही शरीर में जीव उत्पन्न हो जाता है। इसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यदि वह स्वतंत्र होता तो जीव हमारे सामने प्रत्यक्ष होता। इस तर्क के उत्तर में पुत्र बोले—पिता ! वह हमारी इन्द्रियों के प्रत्यक्ष नहीं है इसका कारण उसके अस्तित्व का न होना नहीं है, किन्तु इसका कारण है उसकी अमूर्तता।

चैतन्य : एक सूर्य

जीव स्व-परप्रकाशी है। उसमें अपने आपको और वस्तु जगत् दोनों को जानने की क्षमता है। उसका चैतन्य साधारणतया आवृत-अनावृत अवस्था में रहता है। चैतन्य एक सूर्य है। वह आवरण के बादलों से ढंक जाने पर भी सर्वथ

आच्छन्न नहीं होता। आकाश में बादलों का घटाटोप है, सूर्य उससे ढंका हुआ है, फिर भी दिन और रात का विभाग बना रहता है। जीव में विद्यमान ज्ञानरूपी चैतन्य, आवरण से पूर्ण आवृत कभी नहीं रहता। उसमें चैतन्य-विकास की कुछ रश्मियां निरन्तर प्रकट रहती हैं। यदि वे प्रकट न हों तो जीव और अजीव में कोई भेदरेखा नहीं खींची जा सकती।

आवृत-अनावृत चैतन्य में जानने की क्रिया निरन्तर नहीं होती; इसलिए जीव जब जानने का प्रयत्न करता है तब उसका ज्ञान केवल अस्तित्व में रहता है। इस आधार पर जीव की अनुपयोग और उपयोग, इन दो अवस्थाओं का निर्माण होता है—

आवृत-अनावृत चैतन्य = अनुपयोग; ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता।

आवृत-अनावृत चैतन्य = उपयोग; ज्ञेय का ज्ञान होता है।

विकास का अन्तिम बिन्दु उपलब्ध होने पर, ज्ञान के आवरण का सर्वथा विलय हो जाने पर चैतन्य अनावृत हो जाता है। उस अवस्था में चैतन्य का स्वरूप इस प्रकार बनता है।

अनावृत चैतन्य-सतत उपयोग = ज्ञेय का सतत बोध।

जीव : अनादि-अनन्त

जीव अनादि और अनन्त है। वह अकृत और अनुत्पन्न है, इसलिए अनादि है। वह अकृत और अविनाशी है, इसलिए अनन्त है। चैतन्य उसका मौलिक गुण या स्वरूप है; इसलिए वह भी अनादि-अनन्त है। अनेकान्त की दृष्टि से प्रत्येक अस्तित्व त्रिरूप होता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—तीनों समन्वित रूप में द्रव्य के लक्ष्य हैं। ध्रौव्य द्रव्य का शाश्वत स्वरूप है। उत्पाद और व्यय—ये दोनों उसके अशाश्वत रूप हैं। प्रत्येक द्रव्य शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता, इस अपेक्षा से वह शाश्वत है। उसका रूपान्तरण होता रहता है, इस अपेक्षा से वह अशाश्वत है। चैतन्य शाश्वत है। आवरण उसका अशाश्वत भाव है। वह पौद्गलिक है, जीव का स्वभाव नहीं है। वह प्रवाह के रूप में आता है और अपनी अवधि पूर्ण कर चला जाता है। उचित उपाय के द्वारा उसका अन्त भी किया जा सकता है। इसे दो रूपों में देखा जा सकता है—

ज्ञान का आवरण; अनादि-अनन्त (उचित उपाय के अभाव में)

ज्ञान का आवरण, अनादि सान्त (उचित उपाय के होने पर)

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी जीव में पूर्ण अनावरण की अवस्था विकसित नहीं हो सकती। आंशिक अनावरण प्रत्येक जीव में विकसित होता है।

जीव और शरीर

प्रत्येक संसारी जीव के सामान्यतया तीन शरीर होते हैं:

- (१) औदारिक शरीर (स्थूल शरीर);
- (२) तैजस शरीर (सूक्ष्म शरीर);
- (३) कर्म शरीर (सूक्ष्मतर शरीर)।

औदारिक शरीर का जीवन के आरम्भ में निर्माण होता है और जीवन की समाप्ति के साथ उसका वियोग हो जाता है। वह कर्म-शरीर का संवादी शरीर होता है। कर्म-शरीर में चेतना के विकास और अवरोध के जितने केन्द्र होते हैं, वे सब-के-सब औदारिक शरीर में बन जाते हैं। कर्म शरीर से आने वाले स्पन्दन औदारिक शरीर के केन्द्रों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। वे व्यक्ति के दृष्टिकोण, व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते हैं।

तैजस और कर्म शरीर जीव के साथ निरन्तर जुड़े रहते हैं। मृत्यु के पश्चात् और पुनर्जन्म से पूर्व जो गति होती है उसे अन्तराल गति कहा जाता है। उस गति में भी वे जीव के साथ रहते हैं, इसलिए उसके स्थूल शरीर का पुनर्निर्माण या पुनर्जन्म होता है।

वैक्रिय और आहारक ये दोनों शरीर लब्धि या योगज विभूति से उत्पन्न होते हैं। वैक्रिय शरीर के द्वारा नाना रूपों का निर्माण किया जा सकता है। आहारक शरीर के द्वारा विचारों का संप्रेषण किया जा सकता है। कुछ जीवों के वैक्रिय शरीर जन्मगत भी होता है।

प्राण : एक सेतु

जीव और शरीर के बीच प्राण एक सेतु है। शरीर, वचन और मन का उपयोग प्राणशक्ति के द्वारा ही किया जाता है। एक ही प्राणशक्ति कार्य-भेद से दस भागों में विभक्त हो जाती है—

१. स्पर्शन इन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (स्पर्शनेन्द्रिय प्राण)।
२. रसनेन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (रसनेन्द्रिय प्राण)।
३. घ्राणेन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (घ्राणेन्द्रिय प्राण)।
४. चक्षुरिन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (चक्षु-इन्द्रिय प्राण)।
५. श्रोत्रेन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (श्रोत्रेन्द्रिय प्राण)।

६. शरीर को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (शरीर प्राण) ।
७. श्वासोच्छ्वास को संचालित करने वाली प्राणशक्ति
(श्वासोच्छ्वास प्राण) ।
८. वाणी को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (भाषा प्राण) ।
९. मन को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (मनःप्राण) ।
१०. जीवन को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (आयुष्य प्राण) ।

जीवन की सारी प्रवृत्तियां इस प्राण-ऊर्जा के द्वारा सक्रिय होती हैं । इसके आधार पर जीवन और मृत्यु की परिभाषा बनती है । प्राणशक्ति का होना जीवन है और प्राणशक्ति का चुक जाना मृत्यु ।

जीव और काय

शरीर-रचना के आधार पर जीव छह भागों में विभाजित होता है—

१. पृथ्वीकाय, २. अप्काय, ३. तैजसकाय, ४. वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय, ६. त्रसकाय ।

साधारणतया त्रसकाय को गतिशीलता के आधार पर जीव माना जाता है । वनस्पति को भी कुछ लोग जीव मानते हैं । जैन दर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी सजीव माना गया है । जैन दर्शन का सिद्धान्त है कि दृश्य या स्थूल जगत् जीवों के द्वारा निर्मित होता है । जितना दृश्य जगत् है वह या तो जीवयुक्त शरीर है या जीवमुक्त शरीर । ऐसा कोई भी तत्त्व दृश्य नहीं है जो जीव के शरीर के रूप में परिणत न हुआ हो ।

जीव के इन छह कायों में वनस्पतिकाय जीवों का अक्षय कोष है । केवल इसी काय में अनन्त जीव होते हैं । विकास की प्रक्रिया के अनुसार जीव वनस्पति से निकल कर आगे की यात्रा तय करता है ।

जीव और आत्मा

‘भगवती सूत्र’ में जीव के तेईस पर्यायवाची नाम दिए हैं: १. जीव, २. जीवास्तिकाय, ३. प्राण, ४. भूत, ५. सत्त्व, ६. विज्ञ, ७. वेदक, ८. चेतस्, ९. जेता, १०. आत्मा, ११. रंगण, १२. हिण्डुक, १३. पुद्गल, १४. मानव, १५. कर्ता, १६. विकर्ता, १७. जय, १८. जन्तु, १९. योनि, २०. स्वयंभू, २१. सशरीर, २२. ज्ञायक, २३. अन्तरात्मा ।
(भगवती २०/१७)

शाब्दिक दृष्टि से जीव का अर्थ होता है प्राण-धारण करने वाला और आत्मा का अर्थ होता है चेतना की विविध अवस्थाओं का अनुभव करने वाला; किन्तु स्थूल व्यवहार में इन्हें एकार्थक कहा जा सकता है ।

जीव दो प्रकार के होते हैं : बद्ध—कर्म शरीर से बंधा हुआ; मुक्त—कर्म-शरीर से पृथग्भूत ।

बद्ध और मुक्त

जीव जब बद्ध अवस्था में होता है तब पुनर्जन्म का चक्र आगे-से-आगे बढ़ता रहता है । बद्ध अवस्था कर्म, वातावरण और परिस्थिति से प्रभावित अवस्था है; इसलिए उसका स्वरूप बदलता रहता है, उसकी गति बदलती रहती है । वह कभी मनुष्य हो जाता है, कभी पशु, कभी नारक और कभी देव । उसकी जाति भी बदलती रहती है । कभी चतुरिन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय या एकेन्द्रिय । इसके उत्क्रमण और अपक्रमण दोनों होते रहते हैं । विकास के बाद अविकसित अवस्था में जाने का नियम चेतना की स्वतन्त्रता का नियम है । विकास और अविकास दोनों सापेक्ष है । कषाय की स्थिति में ये दोनों घटित होते हैं; इसलिए चेतन जगत् के नियमों को समझना सहज/सरल नहीं है । ये अचेतन जगत् की भांति स्थिर नियम नहीं है । आन्तरिक विकास और अविकास के साथ-साथ वे बदलते रहते हैं । उनकी परिवर्तनशीलता के कारण जीव का रूप भी बदलता रहता है । मुक्त आत्मा का स्वरूप निश्चित हो जाता है । इसी आधार पर कहा जा सकता है कि जीव का वास्तविक स्वरूप वह है जो मुक्त आत्मा में विकसित है । मुक्त आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति—ये सब अनन्त हो जाते हैं । उनकी अनन्तता ही जीव का वास्तविक स्वरूप है ।

दोहरा व्यक्तित्व

मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क की दो परतें होती हैं । कभी एक प्रकार का व्यक्तित्व काम करता है तो कभी दूसरे प्रकार का । जैन-दर्शन के अनुसार जिसमें पूर्ण अनावरण की अवस्था विकसित नहीं है उसमें दोहरा व्यक्तित्व होता है । इसका हेतु यह है कि जीव में कर्म-पुद्गल की सक्रियता और निष्क्रियता दोनों विद्यमान रहती हैं । कर्मशास्त्र की भाषा में कर्म की सक्रियता को औदयिक व्यक्तित्व और उसकी निष्क्रियता को क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कहा जाता है ।

औदयिक व्यक्तित्व के लक्षण हैं : १. जानने और देखने की अक्षमता । २. मूर्च्छा का अनुभव—आवेग, भय और काम-वासना का अनुभव । ३. सामर्थ्यहीनता का अनुभव । ४. सुख-दुःख का अनुभव । ५. उच्चता-नीचता का अनुभव । ६.

शुभ-अशुभ का अनुभव. ७. जीवन-मृत्यु का अनुभव ।

क्षायोपशमिक व्यक्तित्व के लक्षण हैं : १. जानने-देखने की क्षमता का अनुभव । २. अमूर्च्छा का अनुभव—आवेग-शून्यता, अभय, काम-वासना-मुक्ति और आनन्द का अनुभव । ३. सामर्थ्य का अनुभव । ४. संवेदन-मुक्ति का अनुभव ।

व्यक्तित्व की ये दोनों परतें हर व्यक्ति के मस्तिष्क में होती हैं । अपने चैतन्यमय स्वरूप के प्रति जागरूकता के क्षण में क्षायोपशमिक व्यक्तित्व की परत सक्रिय होती है । मूर्च्छा के क्षण में औदयिक व्यक्तित्व की परत सक्रिय होती है । इन दोनों के प्रभाव से दोहरा व्यक्तित्व बनता है । यह जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है, किन्तु अनावरण की अवस्था के विकास से पूर्व उसका यही रूप उपलब्ध होता है । चैतन्य का अनावरण होने पर यह दोहरा व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है, तभी उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है । इसे क्षायिक व्यक्तित्व कहते हैं ।

सशरीर और अशरीर

जीव संसार में रहता है । वह शरीर में रहता है और उसका फैलाव भी शरीर जितना ही होता है, इसलिए उसे (जीव को) देह-परिमाण कहा गया है । वह न तो शरीर के किसी हिस्से में केन्द्रित है और न पूरे लोक में व्याप्त है, किन्तु वह पूरे शरीर (नाड़ी-संस्थान) में व्याप्त है । मुक्ति के प्रथम क्षण में वह अशरीर हो जाता है । उस अवस्था में भी वह पूरे लोक में व्याप्त नहीं होता, किन्तु जिस शरीर से मुक्त होता है उसी के त्रिभागहीन क्षेत्र में वह व्याप्त हो जाता है ।

यह अशरीर अवस्था जीव की सर्वथा पुद्गलक्त या अचैतन्य-वियुक्त अवस्था है । इस अवस्था के उपलब्ध होने पर जीव फिर कभी पुद्गल से युक्त नहीं होता, उससे प्रभावित नहीं होता ।

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का स्थान

अनुभव और तर्क के आधार पर अनेक दृष्टियां विकसित हुई हैं । अनुभव और चिन्तन के तारतम्य से ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है । परिभाषाओं की संरचना में भी अन्तर है । भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण ब्राह्मण और श्रमण-इन दो धाराओं में किया जा सकता है । मीमांसक और वेदान्त ब्राह्मण-धारा के दर्शन हैं । जैन और बौद्ध श्रमण-धारा से जुड़े हुए हैं । न्याय-वैशेषिक भी मूलतः ब्राह्मण-धारा के नहीं रहे हैं । यह परम्परा-स्रोत के आधार पर किया जाने वाला वर्गीकरण है । यह अहेतुक नहीं है । फिर भी इससे वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वह सांख्य क्षेत्र में अपेक्षित है । सांख्य और जैन दर्शन में जो चिन्तन का सामीप्य है, वह सांख्य और मीमांसा में नहीं है । वैशेषिक के परमाणुवाद और वेदान्त के ब्राह्मवाद में कोई समानता नहीं है । इसलिए चिन्तन-धाराओं का वर्गीकरण अपेक्षित है । परम्पराओं के आधार पर किया जाने वाला वर्गीकरण दार्शनिक विकास और मूल्यांकन में विशेष उपयोगी नहीं है । अनेकान्त के व्याख्याकार आचार्यों ने चिन्तन के आधार पर दर्शनों का वर्गीकरण कर दर्शन के क्षेत्र में एक नया अध्याय जोड़ा था । उससे मूल्यांकन का दृष्टिकोण बदल जाता है । अब तक दर्शन के समीक्षकों ने वेदान्त के आधार पर दर्शनों का मूल्यांकन किया है । किसी एक दर्शन के आधार पर तटस्थ मूल्यांकन करना सम्भव नहीं लगता । दृष्टियों के आधार पर वह सम्भव हो सकता है । जैन दार्शनिकों ने दृष्टियों के आधार पर दर्शनों की समीक्षा की । उन्होंने किसी की दृष्टि को हेय या असत्य घोषित नहीं किया । सत्यानुसन्धान की एक दृष्टि को इतर दृष्टियों से जोड़कर उसकी सत्यता का प्रतिपादन किया । अभेद-दृष्टि का जितना विकास वेदान्त ने किया, उतना अन्यत्र दुर्लभ है । भेददृष्टि के विकसित प्रतिपादन में बौद्ध सबसे आगे हैं । जैन दर्शन ने अभेद और भेद में अविरोध की स्थापना की । उसके अनुसार अभेद और भेद सापेक्ष हैं । उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता । अभेद और भेद—दोनों एक ही पदार्थ को देखने की दो दृष्टियां हैं । सामान्य की दृष्टि से देखने पर अभेद ही अभेद फलित होता है । और विशेष की दृष्टि से देखने पर भेद ही भेद फलित होता है । दोनों दृष्टियां संयुक्त होती हैं तब सत्य का दर्शन होता है । सांख्य-सम्मत

आत्मा कूटस्थ है और बौद्ध-सम्मत आत्मा क्षणिक है। अपरिणामी आत्मा का विकास जितना सांख्य ने किया उतना अन्य दृष्टि में उपलब्ध नहीं है। परिणामी चेतना के प्रतिपादन में बौद्धों ने बहुत सफलता प्राप्त की। जैन दर्शन ने आत्मा को परिणामी-नित्य स्थापित कर दोनों दृष्टियों को समन्वित कर दिया। जैन दर्शन ने यह घोषणा की—कोई भी दृष्टि असत्य नहीं है, प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है, किन्तु दूसरी दृष्टियों से सापेक्ष हुए बिना वह पूर्ण सत्य नहीं बनती। इस घोषणा ने दार्शनिक मूल्यांकन का सारा दृष्टिकोण ही बदल दिया। आश्चर्य है कि दार्शनिकों ने इस घोषणा पर ध्यान नहीं दिया। यदि इस पर ध्यान दिया जाता तो दर्शनों के परस्पर खंडन-मंडन या जय-पराजय की बात नहीं होती। जो शक्ति परस्पर खंडन-मंडन में लगी वह विभिन्न दृष्टियों के मूल्यांकन में लगती और दर्शन के व्यवस्थित विकास की परम्परा का सूत्रपात हो जाता।

जागतिक समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न में प्रत्येक दर्शन भागीदार है। कोई दर्शन किसी एक समस्या को सुलझाने में सफल हुआ है और कोई दूसरी समस्या को सुलझाने में। यदि सभी दृष्टियों में सत्यांश की अनुभूति हो तो मूल्यांकन का दृष्टिकोण स्वस्थ होगा। यदि एक दृष्टि को पूर्ण सत्य मानकर दूसरी दृष्टियों का मूल्यांकन किया जाए तो दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं होगा। जैन दर्शन ने अनेकान्त दर्शन की स्थापना कर सभी दर्शनों को सापेक्ष दृष्टि से देखा और सभी दर्शनों के मध्य वह समन्वय-सेतु बन गया। अहिंसा और मैत्री के विकास का आधार यह समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण ही है। हिंसा की जड़ विचारों का विप्रतिपत्ति हैं।

वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होती है। शरीर जड़ है, वाणी भी जड़ है। जड़ में हिंसा-अहिंसा के भाव नहीं होते। इनकी उद्भव-भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकाएं अनंत हैं।

प्रत्येक वस्तु के अन्तर्गत धर्म हैं। उनको जानने के लिए अनंत दृष्टियां हैं। प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है। सब धर्मों का वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु और सत्यांश का वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय में कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमें वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू हैं, उतने ही सत्य हैं, उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी ही अपेक्षाएं हैं। जितनी अपेक्षाएं हैं, उतने

ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र-बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-संवाद, संघर्ष-समन्वय, हिंसा और अहिंसा की परिक्रमा लगती है। एक से अनेक के सम्बन्ध जुड़ते हैं, सत्य या असत्य के प्रश्न खड़े होने लगते हैं। बस, यही से विचारों का स्रोत दो धाराओं में बह चलता है—अनेकान्त या सत्-एकान्त-दृष्टि—अहिंसा, असत्-एकान्त-दृष्टि—हिंसा।

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत, इसकी परख करने के लिए एक दृष्टि की अनेक धाराएं चाहिए। वक्ता ने जो शब्द कहा, तब वह किस अवस्था में था? उसके आस-पास की परिस्थितियां कैसी थीं। उसका शब्द किस शब्दशक्ति से अन्वित था? विवक्षा में किसका प्राधान्य था? उसका उद्देश्य क्या था? वह किस साध्य को लिए चलता था? उसकी अन्य निरूपण पद्धतियां कैसी थीं? तत्कालीन सामयिक स्थितियां कैसी थीं? आदि-आदि अनेक छोटे-बड़े बाट मिलकर एक-एक शब्द को सत्य की तराजू में तोलते थे।

सत्य जितना उपादेय है उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसे प्रकाश में लाने का एकमात्र साधन है—शब्द। उसके सहारे सत्य का आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आप में सत्य या असत्य कुछ भी नहीं है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य या असत्य से जुड़ता है। 'रात' एक शब्द है, वह अपने आप में सही या झूठ कुछ भी नहीं। वक्ता अगर रात को रात कहे तो वह शब्द सत्य है और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है, तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसी के सहारे को सत्य को ग्रहण कर सकता है।

इसलिए भगवान महावीर ने बताया— “प्रत्येक धर्म (वस्त्वंश) को अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांश के साथ लगे या छिपे अनेक सत्यांशों को ठुकराकर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्यांश बनकर आता है।”

दूसरो के प्रति ही नहीं उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरो को भी समझने की भी चेष्टा करो। यही है—अनेकान्तदृष्टि, यही है—अपेक्षावाद और इसी का नाम है—बौद्धिक अहिंसा। इसके विकास में जैन का महत्वपूर्ण योगदान है।

अनुशासन की समस्या

चित्त एकाग्र नहीं होता। यह समस्या किसी एक व्यक्ति की नहीं, हजारों-हजारों व्यक्तियों की है। मन एकाग्र क्यों नहीं होता—यह प्रश्न किसी एक के द्वारा नहीं, हजारों-हजारों के द्वारा पूछा जाता है। किन्तु यह समस्या समाधान से परे नहीं है और यह प्रश्न अनुत्तरित नहीं है। इस समस्या का समाधान है अप्रतिबद्धता और इस प्रश्न का उत्तर भी यही है। मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र में प्रतिबद्ध (committed) है। परिवार, सामाजिक वातावरण—यह बाहरी प्रतिबद्धता है। विचार और संस्कार—यह आन्तरिक प्रतिबद्धता है। प्रतिबद्ध व्यक्ति अकेला नहीं हो सकता और जो अकेला नहीं होता, वह एकाग्रचित्त भी नहीं हो सकता। समस्या एकाग्रता की नहीं है। समस्या है प्रतिबद्धता की। मनुष्य बड़ा विचित्र है। वह प्रतिबद्धता को छोड़ना नहीं चाहता और एकाग्रता को चाहता है। इस विसंगति का कोई समाधान नहीं हो सकता। क्या सामाजिक जीवन में अप्रतिबद्ध होकर जीना संभव है? सहज ही यह पूछा जा सकता है। कोई भी सामाजिक प्राणी अकेला होकर जी नहीं सकता। इसलिए शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रतिबद्ध होना आवश्यक है। मनुष्य चेतना के स्तर पर अप्रतिबद्ध हो सकता है। चित्त की एकाग्रता का आधार बिन्दु भी यही है। यही है समर्पण। यही है अनुशासन। सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में अनुशासन नियंत्रण में खोजा जाता है। केवल समाज-व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न किया जाता है। वह प्रयत्न तानाशाह को जन्म देने का प्रयत्न है। उससे जनता और अधिक संताप भोगती है। जैसे-जैसे नियंत्रण की पकड़ मजबूत होती है, वह परतंत्र बनती जाती है। अध्यात्म के क्षेत्र में अनुशासन का आधार है व्यक्ति की आन्तरिक चेतना को बदलना। उसके बिना कोई भी परिवर्तन सफल नहीं हो सकता। आध्यात्मिक आस्था है कि हर व्यक्ति में बदलने की क्षमता है और उपयुक्त सामग्री उपलब्ध होने पर वह बदल सकता है, चेतना का रूपान्तरण कर सकता है। जैसे-जैसे विचारों और संस्कारों की प्रतिबद्धता कम होती है, वैसे-वैसे व्यक्ति समर्पित होता जाता है। यह समर्पण की प्रक्रिया ही अनुशासन के विकास की प्रक्रिया है। जो जिसके

प्रति समर्पित है, वह कभी उसकी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता। मनुष्य में सत्य की आस्था को जगाया जा सके तो अनुशासन के लिए स्वतंत्र प्रयत्न आवश्यक नहीं होता। सत्य के सूत्र से बंधा हुआ व्यक्ति स्वयं अनुशासित हो जाता है। आत्मानुशासन का अर्थ है—सत्य का अनुशासन। इस अनुशासन को जीवन के अनेक स्तरों पर रूपायित किया जा सकता है—

१. आत्मानुशासन का अर्थ है—प्राणशक्ति का संतुलन।

२. आत्मानुशासन का अर्थ है—जैविक रसायनों का परिवर्तन।

३. आत्मानुशासन का अर्थ है—शरीरबल, मनोबल और बुद्धिबल का संतुलन।

४. आत्मानुशासन का अर्थ है—प्रियता और अप्रियता से मुक्त क्षण में जीने का अभ्यास।

५. आत्मानुशासन का अर्थ है—अपने भीतर हो रहे परिवर्तनों का अनुभव।

क्या अनुशासन की यह प्रक्रिया सामाजिक बन सकती है? वैयक्तिक प्रक्रिया से कुछेक व्यक्ति लाभान्वित हो सकते हैं। पूरे समाज का रूपान्तरण नहीं हो सकता। आज ऐसी प्रक्रिया की खोज अपेक्षित है, जो पूरे समाज में अनुशासन को प्रतिष्ठित कर सके। इस प्रश्न के उत्तर में बहुत सीधा सा मार्ग प्रस्तुत है—बौद्धिक विकास के लिए शैक्षणिक विकास सामाजिक बन सकता है, तब मानसिक प्रशिक्षण सामाजिक क्यों नहीं बन सकता? अनुशासन एक मानसिक प्रशिक्षण है। हम मन को प्रशिक्षण दिए बिना ही उसे अनुशासित रखना चाहते हैं। यह अद्भुत आशा है और ऐसी आशा है जिसकी पूर्ति कभी सम्भव नहीं है। अनुशासन के विकास का प्रयत्न असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयत्न नहीं है। हम सम्भव को असम्भव माने हुए हैं। उस मान्यता को तोड़ने का प्रश्न है। उस मान्यता का टूटना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए श्रेयस्कर है।

मूल का सिंचन

फूल स्वयं बता रहे हैं कि उसकी सुन्दरता का कारण है मूल का सिंचन । जिसने जड़ को सींचा उसने सारे जगत् को सुन्दर बनाया । जो मूल को नहीं सींच पाया, पत्तों तक ही उलझ गया, वह कभी सुन्दरता को पैदा नहीं कर सका । अनुशासन की समस्या है किन्तु उससे भी बड़ी समस्या यह है कि हम समस्या के मूल में जाने की चेष्टा नहीं करते हैं । समस्या के मूल को पहचानने की चेष्टा नहीं करते हैं । मूल के सिंचन की बात कम सोचते हैं । केवल फूलों को संवारना चाहते हैं, पत्तों को संवारना चाहते हैं । कभी ऐसा नहीं हुआ कि फूलों और पत्तों को सींचने से फल हरे-भरे हुए हों । जड़ को सींचा जाता है, तभी सुन्दरता आती है ।

समस्या बाहर नहीं, भीतर है

हम समस्या का समाधान हमेशा बाहर में खोजते हैं । इस एकांगी दृष्टिकोण के कारण सारी समस्याएं उलझती जा रही हैं । जबकि समस्या का उपादान हमारे भीतर में है । हम समाधान बाहर से कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? सबसे पहले हमें अपनी वृत्ति बदलनी होगी । जब तक हमारी वृत्ति नहीं बदलेगी तब तक हमारा व्यवहार नहीं बदल सकता, हमारा आचरण नहीं बदल सकता । सबसे पहले दृष्टिकोण को बदलने की जरूरत है । हमारी दृष्टि बदलनी बहुत अपेक्षित है । आंख का एक रोगी डॉक्टर के पास आया । चश्मा लेना था । डॉक्टर ने रोगी से कहा—सामने देखो । क्या लिखा है ? उसे पढ़ो । रोगी ने पूछा—कहां लिखा है ? डॉक्टर ने कहा—पट्ट पर लिखा है । रोगी ने कहा—पट्ट कहां है ? डॉक्टर ने कहा—सामने भीत पर है । रोगी ने फिर पूछा—भीत कहां है ? डॉक्टर ने कहा—चले जाओ । जिसकी दृष्टि इतनी खराब हो गई है कि उसे भीत भी दिखाई नहीं देती, उसकी आंख का इलाज कैसे किया जा सकता है ?

आवेगों पर नियन्त्रण

जब तक अनुशासन के प्रति हमारा दृष्टिकोण सही नहीं होता, तब तक अनुशासन की स्थापना नहीं हो सकती है दृष्टि बदलने के साथ-साथ दो बातें और अपेक्षित हैं एक आवेगों पर अनुशासन और दूसरा इन्द्रियों पर अनुशासन । हम

अनुशासन को लाना चाहते हैं किन्तु स्वयं पर अनुशासन नहीं होता, स्वयं के कार्यों पर अनुशासन नहीं होता। जब तक हमारा स्वयं पर अनुशासन नहीं होगा, तब तक बात बनेगी नहीं। हर व्यक्ति में आवेग होता है, क्रोध होता है, अहंकार होता है। जब तक हमारा इन पर नियन्त्रण नहीं होगा, तब तक अनुशासन की बात नहीं सोची जा सकती। आवेग दोनों प्रकार के होते हैं। प्रियता का भी होता है और अप्रियता का भी होता है। दोनों पर हमारा नियंत्रण होना चाहिए।

मैं आप लोगों के सामने एक सच्ची घटना प्रस्तुत कर रहा हूँ। एक गरीब व्यक्ति ने लाटरी का टिकट खरीदा। संयोग की बात कि वह लाटरी में पांच लाख रुपए जीत गया। अधिकारियों के सामने प्रश्न आया उस गरीब आदमी को पांच लाख रुपए जीतने की सूचना कैसे दी जाए? अचानक पांच लाख रुपए जीतने की खुशी में उसका हार्ट फेल हो सकता है। एक डॉक्टर ने कहा कि मुझे यह कार्य सौंप दीजिए। मैं बहुत अच्छी तरह समझाकर सूचना दे दूंगा।

डॉक्टर ने जाकर उस आदमी को नमस्कार किया। गरीब आदमी ने सोचा कि इतना बड़ा आदमी आज उसे कैसे नमस्कार कर कहा है? उसने पूछा—‘आप कौन हैं?’ उत्तर मिला, ‘डॉक्टर हूँ।’ ‘आप कैसे आए हैं?’ उत्तर मिला, ‘वैसे ही आपसे मिलने आया हूँ।’ इधर-उधर की बातें होने के बाद डॉक्टर ने कहा—‘यदि आपको बीस हजार रुपए मिल जाएं तो आप क्या करेंगे?’ उसने कहा—‘ऐसा कहां सम्भव है? हम गरीब आदमी हैं। बीस रुपये के लिए भी तरसते हैं।’ डॉक्टर ने कहा—‘मान लीजिए कि मिल गए तो आप क्या करेंगे?’ उसने कहा—‘दस हजार रुपये आपको दे दूंगा।’ डॉक्टर ने फिर पूछा—‘यदि आपको पांच लाख रुपये मिल जाएं तो?’ उस गरीब आदमी ने कहा—‘ढाई लाख रुपये आपको दे दूंगा।’ डॉक्टर ने कहा—‘अरे ढाई लाख रुपये मुझे दे दोगे’, और इतना कहते ही डॉक्टर का हार्ट फेल हो गया। जो दूसरो को समझाने के लिए गया था, वह स्वयं चल बसा।

जब तक हमारा इन्द्रियों पर अनुशासन नहीं होगा, तब तक हम अच्छा काम नहीं कर सकेंगे। किन्तु प्रश्न होता है कि होगा कैसे? क्या कहने मात्र से हो जाएगा अनुशासन, क्या उपदेश से हो जाएगा अनुशासन? मैं ऐसा नहीं मानता हूँ। यह सम्भव नहीं है। कहने मात्र से अनुशासन हो जाता तो आज हर धर्म का आदमी अनुशासित होता। किन्तु धर्म को मानने वाले लोग भी अनुशासित नहीं हैं। क्योंकि कोरा उपदेश कभी जीवन में अनुशासन नहीं ला सकता।

धार्मिक : अधार्मिक

हमे प्रयोग करना होगा। आचार्य तुलसी ने इस सारी समस्या को ध्यान में रखकर ही अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत का उद्देश्य है कि मनुष्य की संकल्प-शक्ति जागे। धर्म प्रयोगिक बने। धर्म कोरे उपदेश के साथ न रहे। कोरे उपदेश से न धर्म का भला होगा, न धार्मिक का भला होगा। आज तो स्थिति यह है कि एक धार्मिक और अधार्मिक के बीच कोई भेद रेखा ही दिखाई नहीं पड़ती। आज धार्मिक और नास्तिक के बीच कोई लक्ष्मण रेखा दिखाई नहीं पड़ती। जो कार्य एक अधार्मिक कर रही है, वही कार्य एक धार्मिक भी कर रहा है। जो भ्रष्टाचार, बेईमानी एक नास्तिक कर रहा है, वही आस्तिक भी कर रहा है। अगर कोई अन्तर है तो वह इतना ही है कि नास्तिक या अधार्मिक को सायंकाल कोई प्रार्थना करने की जरूरत नहीं होती। धार्मिक आदमी बेईमानी भी करता जाता है और साथ में प्रार्थना भी करता जाता है। वह प्रायश्चित्त या प्रार्थना बुराई छोड़ने के लिए नहीं करता बल्कि और अधिक करने के लिए करता है।

प्रेक्षा ध्यान के द्वारा परिवर्तन

बात है बदलने की। अणुव्रत आंदोलन ने एक नया प्रयोग और किया प्रेक्षा ध्यान का। हमने देखा कि आदमी बुराई करता है किन्तु केवल परिस्थितियों के कारण ही नहीं करता। ऐसा तो केवल मान लिया गया है कि जैसी परिस्थिति होती है, आदमी वैसा बन जाता है। जब हम गहराई में उतरकर देखते हैं तो इस सिद्धान्त में कोई सच्चाई नहीं लगती। मैं मानता हूँ कि परिस्थिति भी एक निमित्त बनती है, वातावरण भी एक निमित्त बनता है। हम निमित्त को तो पकड़ लेते हैं, किन्तु मूल बात को छोड़ देते हैं। मूल बात यह है कि हमारे व्यवहार और आचरण वैसे होते हैं, जैसे हमारे भीतर के रसायन होते हैं। आज की वैज्ञानिक खोजो से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि मनुष्य का व्यवहार और आचरण वैसा होता है, जैसा व्यक्ति का स्राव होता है। जैसा व्यक्ति का स्राव होता है, वैसा ही उसका आचरण होता है।

भीतरी रसायनो में परिवर्तन

मैं आप लोगों से बहुत विश्वास के साथ कहना चाहता हूँ कि चाहे हजार बार हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में परिवर्तन कर दिया जाए, कितने ही शिक्षा के आयोग स्थापित हो जाएं, कितने ही धर्म स्थानों के धर्मगुरु एकत्रित हो जाएं, कितने ही राजनैतिक मंच अनुशासन लाने का प्रयास करे, किन्तु जब तक हमारे रसायन नहीं बदलेंगे, तब तक कोई भी परिवर्तन सम्भव नहीं है। रसायनो

के परिवर्तन के बिना अनुशासन आ सके, इसकी कतई सम्भावना नहीं है। हम वैज्ञानिक दृष्टि से सोचे कि हमारे व्यवहार का नियंत्रण कौन कर रहा है ? पहले यह माना जाता था कि सारा नियंत्रण मस्तिष्क के द्वारा होता है और उसे प्रधानता दी गई ! हमारी शिक्षा में मूल आधार मान लिया गया कि मस्तिष्क का विकास, बुद्धि का विकास करना चाहिए। किन्तु आज तो बात बहुत साफ हो गई है कि कोरा बुद्धि का विकास ही पर्याप्त नहीं है। हमारी शिक्षा का काम है बुद्धि को प्रखर बना देना। पर आपको यह भी पता होना चाहिए कि बुद्धि जैसे-जैसे तेज होती है, हमारी तर्कशक्ति प्रबल होती है। ऐसा होने से हमारे भीतर लड़ने की क्षमता और बढ़ जाती है। आज की अपराधी मनोवृत्ति, हिंसा की मनोवृत्ति, लड़ने की मनोवृत्ति का जो विकास हो रहा है वह हमारी बुद्धि की पैनी धारा के द्वारा हो रहा है। आज इस बात की जरूरत है कि हमारी चेतना जागे। चेतना को जगाने की जरूरत है। बात तो अनुशासन की करते हैं पर लगता है कि मूर्च्छा का वातावरण इतना घना है कि कोई चेतना की बात करता है तो हम उसे स्वीकार करने की मुद्रा में नहीं होते हैं।

एक आदमी बहुत बीमार था। मूर्च्छित हो गया। लगा कि मर गया। डॉक्टर को बुलाया गया। उसने नाड़ी देखी, हृदय की धड़कन देखी। उसे लगा कि रोगी मर गया। रोगी जी रहा था। उसने साहस बटोरकर धीरे से कहा—मैं मरा नहीं जिन्दा हूँ। कम्पाउंडर पास मे ही खड़ा था। उसने गुस्से में कहा—डॉक्टर ज्यादा जानता है कि तुम ज्यादा जानते हो ? जब डॉक्टर कह रहा है कि तुम मर गये हो, तो तुम्हारे कहने से क्या होता है ?

कभी-कभी बड़ी विचित्र स्थिति बन जाती है। हम सच्चाई को स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं होते। सच्चाई को हम नकारते चले जाते हैं। परिस्थिति की दुहाई देकर हम समस्या को और अधिक उलझाते चले जाते हैं। जब तक हम मूल तक नहीं जाएंगे, तब तक कोई बात नहीं बनेगी। अनुशासन आएगा कहां से ? जब हम अनुशासन की विपरीत दिशा में चल रहे हैं तो अमुशासन कहां से आएगा ? हम अमुशासन वर्ष तो जरूर मनाएं किन्तु आत्मानुशासन तक पहुंचने का प्रयास करे। सत्ता का अनुशासन, राज्य का अनुशासन काम का तो होता है, किन्तु अन्त तक हमें पहुंचा नहीं सकता। अनुशासन की स्थापना के लिए हमें आत्मानुशासन जगाना ही होगा। बिना आत्मानुशासन जागे अनुशासन की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है।

समस्या के समाधान का नया आयाम

हिन्दुस्तान जनसंख्या की दृष्टि से विश्व का दूसरा बड़ा राष्ट्र है और प्रजातंत्र की दृष्टि से विश्व का सबसे बड़ा राष्ट्र है। जो जितना बड़ा होता है उसकी समस्याएं भी उतनी ही बड़ी होती हैं। दो व्यक्तियों का एक साथ होना समस्या का आदि बिन्दु है। यह कैसे हो सकता है कि करोड़ों-करोड़ों लोग एक साथ जुड़े हुए हों और समस्याएं न हों? समस्याओं को अस्वीकार करना सत्य के साथ आंखमिचोनी जैसा है। समस्याओं को स्वीकार करें और मुक्तभाव से स्वीकार करें, फिर उसका समाधान खोजें, यह समस्या को सुलझाने का उपाय है।

गरीबी हिन्दुस्तान की एक बड़ी समस्या है। करोड़ों-करोड़ों लोग रोटी जुटाने में ही अपना जीवन खपा देते हैं। गरीबी को मिटाने के लिए सरकार कृत-संकल्प है। समाजवादी समाज-व्यवस्था के संकल्प का भी पुनरुच्चार होता रहता है। उद्योग और व्यापार भी बढ़ा है। इतना होने पर भी वही शिकायत का स्वर गूंज रहा है—गरीब और अधिक गरीब हो रहा है, अमीर और अधिक अमीर हो रहा है।

अनुशासन की समस्या है। शिक्षा-संस्थान से लेकर घर तक यही बात सुनने को मिलती है कि अनुशासन समाप्त हो चुका है, कोई किसी की बात मानने को तैयार नहीं है। क्या अनुशासन के बिना कोई भी समाज सभ्य, शिष्ट और प्रगतिशील हो सकता है? अनुशासनहीनता भावी खतरों का स्पष्ट संकेत है।

जातिवाद भी एक उग्र समस्या है। हजारों वर्ष पुराने संस्कार समाज को पीड़ा दे रहे हैं, आदमी के लिए आदमी अछूत बन रहा है। एक आदमी दूसरे आदमी के प्रति घृणा, द्वेष और तिरस्कार का विष उगल रहा है।

साम्प्रदायिकता की समस्या और अधिक भयावह है। जिस धर्म को आस्था ने मनुष्य की बन्धुत्व और मैत्री का पाठ पढ़ाया था, वही आस्था आज मनुष्य को मनुष्य का प्राण लूटने के लिए उत्प्रेरित कर रही है। जिससे प्रकाश की रश्मियां विकीर्ण हो रही थीं, उससे अन्धकार प्रवाहित हो रहा है। पूरी मनुष्य जाति इस साम्प्रदायिकता के नाग से दंशित है।

बुद्धि, तर्क और विज्ञान के युग में अपराध, उपद्रव, आक्रमण और हिंसा का अभिक्रम भी किसी से पीछे नहीं है। युग की दौड़ में, ऐसा लगता है, कोई किसी से पीछे रहना नहीं चाहता।

अनैतिकता, अप्रामाणिकता और चरित्रहीनता की समस्या भी एक युगीन समस्या बन गई है। इस स्थिति में पारस्परिक अविश्वास, सन्देह और दूसरों को ठगने के प्रयत्न स्वभाविक हो जाते हैं। पूरा समाज निरन्तर भय मानसिक तनाव और चिन्ताओं से घिरा रहता है। उस वातावरण में स्वस्थ चिन्तन, मानसिक शान्ति और निर्बोध आरोग्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

समस्या के ये बिन्दु ऐसी भयानक रेखाओं का निर्माण करते हैं कि उनसे बनने वाला चित्र कभी आकर्षक नहीं हो सकता। सोचा जाता है कि राज्य के पास प्रबल दंडशक्ति है, फिर क्यों नहीं एक साथ ही सारी समस्याओं से निपट लिया जाए? पर यह सोच सही नहीं है। यदि दंड शक्ति से समस्याओं का समाधान होता तो वह अब तक हो जाता। यह पुनर्विचार का बिन्दु है। इसी से हम नया मोड़ ले सकते हैं और नयी दिशा का उद्घाटन कर सकते हैं। वह नया आयाम है—समाज की चेतना का रूपान्तरण। पुरानी भाषा में उसे कहा जाता है—आत्मानुशासन या हृदय परिवर्तन। प्रेक्षा ध्यान की भाषा में इसे इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि वर्तमान समाज की चेतना की परिक्रमा नाभि के आस-पास होती है तब ये सारी समस्याएं पैदा होती हैं और उन समस्याओं से मुक्ति नहीं पायी जा सकती। इनसे मुक्ति पाने का एक उपाय है—चेतना की ऊर्ध्वयात्रा, समाज की चेतना को ऊपर की ओर ले जाना। वह जब हृदय, कंठ और मस्तिष्क के आस-पास, परिक्रमा शुरू करती है तब ऊपर की समस्याएं एक-एक कर समाधान के बिन्दु पर पहुँच जाती हैं। अपेक्षा है आस्था की, अनुसंधान, प्रयोग और प्रशिक्षण की। इस श्रेय के संविभाग में अणुव्रत का भाग कितना होगा, यह आज कसौटी पर है।

अधिनायकवाद और स्वतंत्रता

स्वतंत्रता और परतंत्रता—ये दोनों इस युग के बहु-चर्चित शब्द हैं। हमने इन दोनों शब्दों को राष्ट्र के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न किया है। जिस राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र का शासन होता है वह परतंत्र और जहां अपना शासन होता है वह स्वतंत्र। दूसरे राष्ट्रों पर शासन करने की मनोवृत्ति को साम्राज्यवादी मनोवृत्ति कहा जाता है। साम्राज्यवाद लगभग समाप्त हो चुका है, पर नहीं कहा जा सकता कि साम्राज्यवादी मनोवृत्ति समाप्त हो चुकी है। पहले साम्राज्य का विस्तार प्रत्यक्ष में होता था, आज यह परोक्ष में हो रहा है। पहले वह सैनिक शक्ति से होता था, आज वह आर्थिक प्रभुत्व से हो रहा है। दूसरों को अधीन रखने की मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। इस परतंत्रीकरण की मनोवृत्ति को जब-जब बदलने का प्रयत्न होता है तब-तब वह रूपान्तरित हो जाती है, किन्तु अपने अस्तित्व को निरन्तर बनाए रखती है। जैसे चरितार्थ हो रहा है अनेकान्त का नित्यानित्यवाद। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का एक रूप समाप्त होता है, दूसरा जन्म लेता है और मौलिक मनोवृत्ति ध्रुव रहती है। इस मनोवृत्ति को राष्ट्रीय सन्दर्भ में भी देख सकते हैं। अधिनायकवादी मनोवृत्ति साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का ही एक संस्करण है। शक्तिशाली व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा कम रखता है। वह अपने चिन्तन, विचार और निर्णय को ही अधिक महत्व देता है। उसमें विरोधी विचारों को सहने की क्षमता भी नहीं होती। विरोध या विरोधी को कुचलना उसका एक कर्तव्य-सा बन जाता है। वर्तमान में अधिनायकवादी मनोवृत्ति अधिक प्रभावी हो रही है।

कहा जाता है, प्रत्येक आदमी स्वतंत्रता को पसन्द करता है। मैं तो ऐसा नहीं सोचता। परतंत्रता को पसन्द करने वाले लोगों की हमारी दुनिया में कमी नहीं है। स्वतंत्रता का दीप, शक्ति की बाती और जागरूकता के तेल से जलता है। ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो न शक्ति के विकास का प्रयत्न करते हैं और न जागरूक रहने का। फ्रांस की क्रान्ति के समय जो स्वतंत्रता-प्रेमी लम्बे समय तक कारावास में रहे, वे इतने प्रमादी और आलसी बन गए कि कारावास से मुक्त होने पर उन्होंने फिर कारावास में रहना ही पसन्द किया। जिन्हें अपनी

शक्ति पर भरोसा नहीं है, जो अपना शक्ति को जगाने के लिए कृत-संकल्प नहीं है, जो जागरूक और उद्यमी नहीं है, वे स्वतंत्रता को पसन्द नहीं करते। परतंत्रता की मनोवृत्ति प्रबल है, इसलिए अधिनायकवाद पनपता है। यदि सब लोग स्वतंत्रता की मनोवृत्ति वाले हों तो इसका अंकुर भी नहीं फूट सकता। ऐसा भी होता है कि परतंत्र मनोवृत्ति वाले लोगों से घिरे हुए कुछ स्वतंत्र मनोवृत्ति वाले लोग कठिनाइयां झेलते हैं और अयोग्य करार दे दिए जाते हैं। चापलूसों की भीड़ में स्वतंत्रता का स्वर कहीं खो जाता है। भीड़ का कोलाहल ही अधिनायक के कानों तक पहुंच पाता है।

कुछ लोग चाहते हैं कि स्वतंत्रता अक्षुण्ण रहे, अधिनायकवादी मनोवृत्ति न पनपे, अधिनायक का अस्तित्व न रहे। पर यह चाह निषेधात्मक है। इसका विधायक पक्ष है—सामाजिक चेतना और शक्ति जागरण का प्रयत्न। हम सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पहलू से स्वतंत्रता के बारे में सोचते हैं। आध्यात्मिक पहलू को बिलकुल छोड़ देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति में आकांक्षा, लालसा और सुख-सुविधा की भावना पर नियंत्रण करने की क्षमता नहीं जागती। इसी परिस्थिति में अधिनायकवाद का बीज-वपन होता है और इसी वातावरण में परतंत्रता को नया जीवन मिलता है। बुराई का बिन्दु व्यक्ति की आंतरिक चेतना में जन्म लेता है, सामाजिक वातावरण में उसका विस्तार होता है। हम समस्या का समाधान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिपेक्ष में खोजते हैं। इसका अर्थ होता है हमारा पतझड़ और बसंत में विश्वास है, जड़ में विश्वास नहीं है। जब जड़ सुरक्षित होती है तब पतझड़ और वसन्त दोनों चलते रहते हैं। समस्या का मूल बिन्दु है—आन्तरिक चेतना। उसे बदलने की प्रक्रिया हमारे पास नहीं है। हम समाज को बदलने की बात सोचते हैं। कुछ राजनैतिक प्रणालियों ने समाज को बदलने का प्रयत्न भी किया है, किन्तु जो इष्ट था वह परिणाम नहीं आया। जीवन की संध्या में चीन के भाग्य-विधाता माओ ने कहा था—“मैं अपने स्वप्न को साकार बनाने में सफल नहीं हुआ।” केवल निमित्तों को बदलने में विश्वास करने वाला कोई भी व्यक्ति इस दिशा में सफल नहीं हो सकता। मैं स्यादवाद की भाषा में सोचता हूँ इसलिए यह भी कहना पसन्द करूंगा कि केवल उपादानों को बदलने का प्रयत्न करने वाला भी इस दिशा में सफल नहीं हो सकता। हमने उपादानों और निमित्तों को विभक्त कर समस्या को चिरंजीवी बनाने में योग दिया है। समस्या को सुलझाने का सरल मार्ग हो सकता है—

उपादानों और निमित्तों का योग । हम उपादानों को भी बदलें और निमित्तों को भी बदलें । चेतना का रूपान्तरण करना उपादान को बदलना है । व्यवस्था का परिवर्तन निमित्तों को बदलना है, समाज को बदलना है । निमित्तों के आधार पर परिस्थितिवाद का सिद्धान्त चल रहा है । सामाजिक और अधिनायकवाद—दोनों पर्यायवाची शब्द बन गए । यह मान लिया गया है कि नियंत्रण के बिना समाज को नहीं बदला जा सकता और अधिनायकवाद के बिना नियंत्रण नहीं हो सकता । मार्क्स का स्वप्न था राज्यहीन राज्य (Stateless State) का । यर्थाथ यह है कि राज्य की पकड़ और मजबूत हुई है । व्यक्ति समाज का एक पुर्जा बनकर रह गया । उसके स्वतंत्र अस्तित्व की अवधारणा समाप्त होती जा रही है । व्यक्तिवाद और समाजवाद जैसे दो विरोधी खेमे बन गए हैं और इसी अवधारणा के आधार पर अध्यात्मवाद और भौतिकवाद भी आमने-सामने खड़े हैं । अध्यात्मवादी भौतिकवाद को समाप्त करना चाहते हैं और भौतिकवादी अध्यात्मवाद को समाप्त करने पर तुले हुए हैं । इन एकांकी अवधारणाओं ने मानव जीवन को बहुत अस्त-व्यस्त कर रखा है । इस सन्दर्भ में मैं अनेकान्तवाद को बहुत उपयोगी मानता हूँ । हम सापेक्षता का मूल्यांकन करें, विरोधी युगलों में समन्वय साधें और सह-अस्तित्व की अवधारणा को प्राणवान बनाएं । यह एक उपाय है परतंत्रता से स्वतंत्रता की दिशा में प्रस्थान का ।

व्यक्तिवाद और समाजवाद

सामाजिक जीवन समस्याओं का जीवन होता है । सचाई यह है कि हमारी दुनिया में कोई भी जीवन समस्यामुक्त नहीं हो सकता । इसीलिए मनुष्य समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है । समस्या आती है और वह सुलझाई जाती है । यह क्रम निरंतर चलता रहता है । मनुष्य का स्वभाव एक समस्या है । उसकी स्वतंत्रता भी एक समस्या है । उसके सोचने का तरीका भी एक समस्या है । वह जड़ वस्तु नहीं है, जिसे एक सांचे में ढाला जा सके । वह चेतन है इसलिए हर कार्य में अपनी इच्छा का उपयोग करता है । उसका उपयोग अच्छे काम में भी हो सकता है और बुरे काम में भी हो सकता है । इस स्थिति को ध्यान में रखकर समाज ने व्यवस्था का सूत्रपात किया और उसने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और इच्छा पर अंकुश लगाया । एक सिद्धान्त बना कि स्वतंत्रता और इच्छा का अपने हित में उपयोग हो, किन्तु दूसरे के अहित में उसका उपयोग न हो । इस सिद्धान्त के आधार पर नैतिकता की आचार-संहिता का विकास हुआ । मनुष्य उस आचार-

संहिता के पालन में भी अपनी स्वतंत्रता और इच्छा का उपयोग करने लगा । प्रत्येक बुराई को रोकने के लिए व्यवस्था है, कानून है, दंड है, फिर भी बुराइयां चल रही हैं, बेईमानी बढ़ रही है । यह बिन्दु है—पुनर्विचार का ।

निष्कर्ष निकलता है कि आदमी भीतर से न बदले, चेतना का रूपान्तरण न हो तो बाहर से बदला-बदला-सा लगता है, पर वास्तव में बदलता नहीं । व्यवस्था बाहर पर नियंत्रण करती है, भीतर पर नियंत्रण करना उसके अधिकार में नहीं है । व्रत भीतर का अनुशासन है, इसीलिए अणुव्रत का स्वतंत्र मूल्य है । वह व्यवस्था का सहयोग करता है । व्यवस्था उसका सहयोग करती है, फिर भी अपने-अपने स्थान में दोनों स्वतंत्र हैं ।

अणुव्रत और व्यवस्था

दोनों का योग हो सके तो तीसरी स्थिति का निर्माण होता है । उस स्थिति को न आन्तरिक कहा जा सकता है और न बाह्य उसमें व्यक्ति को बदलने और समाज को संवारने की स्थिति बनती है । वहां न कोरा व्यक्तिवाद रहता है और न कोरा समाजवाद । व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनों की अपनी-अपनी सीमा रहती हैं, फिर भी दोनों एक-दूसरे के बाधक नहीं, किन्तु साधक होते हैं । इस स्थिति के निर्माण में सबका योग अपेक्षित है । प्रतीक्षा है इस अपेक्षापूर्ति की ।

शास्त्रों के व्यापक अर्थ की खोज का दृष्टिकोण

आचार्य विनोबा भावे ने शब्द के अर्थ-परिवर्तन की जो दृष्टि प्रस्तुत की है वह मेरी दृष्टि में बहुत महत्वपूर्ण है। उन्होंने 'गीता प्रवचन' (पृष्ठ १७) में लिखा है—“गीता पुराने शास्त्रीय शब्दों को नये अर्थों में प्रयुक्त करने की आदी है। पुराने शब्दों पर नये अर्थ की कलम लगाना विचारक्रान्ति की अहिंसक प्रक्रिया है। व्यासदेव इस प्रक्रिया में सिद्धहस्त थे। उससे गीता के शब्दों को व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और अनुभव के अनुसार अनेक अर्थ ले सके। अपनी-अपनी भूमिका पर ये सब अर्थ सही हो सकते हैं और उनके विरोध की आवश्यकता न पड़ने देकर हम स्वतन्त्र अर्थ भी कर सकते हैं, ऐसी मेरी दृष्टि है।”

आचार्य विनोबा भावे सत्याग्रही व्यक्ति हैं, इसलिए उनमें शब्दों की पकड़ नहीं है, सत्य की पकड़ है। उन्होंने 'समण सुत्त' के समाधान में लिखा है—“मैं कबूल करता हूँ कि मुझे पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोड़कर महावीर से बढ़कर किसी का असर मेरे चित्त पर नहीं है। उसका कारण यह है कि महावीर ने जो आज्ञा दी है वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह है कि सत्याग्रही बनो। आज जहाँ-जहाँ जो उठा सो सत्याग्रही होता है। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गांधीजी ने पेश किया था, लेकिन बाबा जानता था वह कौन है? वह सत्याग्रही नहीं, सत्याग्रही है। हर मानव के पास सत्य का अंश होता है, इसलिए मानव-जन्म सार्थक होता है। तो सब धर्मों में, सब पन्थों में, सब मानवों में सत्य का जो अंश है उसको ग्रहण करना चाहिए। हमको सत्याग्रही बनना चाहिए, यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसी का असर है। गीता के बाद कहा, किन्तु जब देखता हूँ तो मुझे दोनों में फर्क ही नहीं दीखता है।”

मेरी दृष्टि में अनेकान्त सत्य की खोज का सबसे शक्तिशाली माध्यम है। उसके आधार पर ही शब्द को व्यापक अर्थ दिया जा सकता है। सत्य अनंत है

और शब्द शान्त । मैंने गहरे मे उतर कर अनुभव किया—मैंने जब-जब शब्द का सहारा लिया तब-तब सत्य को असत्य की दिशा में प्रस्थान करते देखा और अखण्ड को खण्डित होते देखा । पर मैंने अनुभव किया—जब-जब मैंने शब्द को छोड़ा तब-तब मैंने सत्य-खण्ड को भी अभिव्यक्ति देने में अपने आप को असमर्थ पाया । सत्य की खोज में एक सन्तुलन अपेक्षित है । शब्द और अशब्द, विकल्प और निर्विकल्प, विचार और दर्शन, तर्क और अनुभव तथा परोक्ष और प्रत्यक्ष—इन सबका सन्तुलन । मानव जाति के विकास आधार अंगूठा है । वह अंगुलियों की विपरीत दिशा में है, इसलिए मनुष्य की कर्मजा-शक्ति सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है । यदि अंगूठा अंगुलियों की श्रेणी में होता तो लिपि, कला और शिल्प—ये सब स्वप्नजगत् के सत्य होते, यथार्थ की भूमि पर नहीं उतर पाते ।

सत्य को दो विपरीत दिशा में खोजा जा सकता है । शब्द के अर्थ की खोज का भी यही नियम है । सत्य के पर्याय होते हैं और शब्द के भी अत्रत पर्याय होते हैं । इसलिए हम आश्चर्य हैं कि सत्य की खोज का द्वार कभी बन्द नहीं होता । हर पीढ़ी को उसकी खोज का अधिकार प्राप्त रहेगा । भाषाशास्त्रीय दृष्टि से शब्द के अर्थ की उत्क्रान्ति, विकास और परिवर्तन का यही आधार है । यह अहंकार किसी युग चेतना को नहीं होना चाहिए कि सत्य खोज लिया गया है । अब भविष्य में उसकी खोज की आवश्यकता नहीं है । यह अहंकार किसी व्यक्ति को नहीं होना चाहिए कि मैं जो कहता हूँ वही सत्य है अथवा मैंने इस शब्द का जो अर्थ किया है, वही अर्थ यथार्थ है । ऐसा आग्रह सबसे बड़ा असत्य होता है । प्रश्न होगा—फिर सत्य क्या है ? उत्तर बहुत सीधा है । दूसरा जो कहता है, उसमें भी सत्यांश है । उस सत्यांश की खोज करना वास्तव में सत्य है ।

सत्य के दो रूप हैं—सूक्ष्म और स्थूल । सूक्ष्म सत्य को सूक्ष्म और स्थूल सत्य को स्थूल उपायों द्वारा खोजा सकता है । मैंने वर्तमान की कठिनाई का अनुभव किया है कि आज का धार्मिक और दार्शनिक सूक्ष्म सत्य की खोज स्थूल उपायों द्वारा कर रहा है । सूक्ष्म सत्य की खोज के लिए भी वह केवल शब्द विचार और तर्क का प्रयोग कर रहा है । इसलिए उसका दर्शन तर्कमूलक बन गया है । उसके फलित होते हैं—विवाद, संघर्ष और जय-पराजय का मनोभाव । दो हजार वर्ष पहले का दार्शनिक इन्द्रिय और मन को पटु या सूक्ष्म बना अथवा अतीन्द्रियज्ञान को प्राप्त कर सत्य खोजता था । उसका दर्शन दर्शनमूलक होता था । उसके

फलित थे—समन्वय, मैत्री और आत्म-शोधन । आज का वैज्ञानिक सूक्ष्म यंत्रों के माध्यम से सत्य की खोज है । इसीलिए वह सत्य की खोज में बहुत सफल हुआ है । किन्तु आज के दार्शनिक के पास न अतीन्द्रिय चेतना का विकास है और न सूक्ष्म यंत्र । सूक्ष्मदर्शन के अतीत और वर्तमान दोनों माध्यमों से वह वंचित है । उसके पास केवल शब्द विचार और तर्क है । इसलिए वह सत्याग्रही कम है, आग्रही अधिक है । पुराने शब्दों को नया अर्थ तब दिया जा सकता है जब दार्शनिक आग्रही कम और सत्याग्रही अधिक हो ।

गीता : संदेश और प्रयोग

मैं जैन धर्म दर्शन में दीक्षित हुआ हूँ, इसलिए अनेकान्त मुझे विरासत में मिला है। मैंने उसे केवल विरासत के रूप में ही नहीं स्वीकारा है, उसे आधुनिक संदर्भों में समझने का प्रयत्न किया है। सापेक्षवाद और संभावनावाद अनेकान्त के आधार-स्तंभ हैं। इन्हें समझकर मैंने उसे हृदयंगम किया है।

गीता मेरी दृष्टि में अनेकान्त दर्शन का एक सुन्दर ग्रन्थ है। आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मतितर्क' और आचार्य समंतभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में सूक्ष्मता से नयवाद का निरूपण किया है और वे दार्शनिक ग्रन्थ बन गए। गीता आध्यात्मिक और दार्शनिक दोनों हैं। इसमें नयदृष्टि का पद-पद पर उपयोग उपलब्ध है। इसीलिए यह द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनों के लिए आधारभूत ग्रन्थ है। द्वैत और अद्वैत दोनों विरोधी बिन्दु प्रतीत होते हैं। वास्तव में उनमें विरोध नहीं है। वे दोनों सापेक्ष हैं। अद्वैत के बिना द्वैत और द्वैत के बिना अद्वैत की कल्पना नहीं की जा सकती। शब्द-संरचना के लिए भी विरोधी युगल का अस्तित्व अनिवार्य है। योगिराज कृष्ण ने कहा—इस जगत् का विस्तार अव्यक्त से हुआ है। सब भूत मुझमें स्थित हैं। मैं उनमें स्थित नहीं हूँ—

‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि च चाहं तेष्ववस्थितः ॥९।४

इसका अग्रिम वक्तव्य है—भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा भी नहीं है—

‘न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।

भूतभृत्र च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥९।५

भूत मुझमें स्थित भी है और नहीं भी। ये दोनों विरोधी बातें कैसे सम्भव हो सकती हैं? इसका उत्तर है कि यह 'ऐश्वर्य योग' है। सापेक्षवाद ही गीता की भाषा में ऐश्वर्य योग है। सापेक्षवाद के बिना विरोधी युगल की व्याख्या नहीं की जा सकती। मनुष्य के जीवन में अनेक विरोधाभास और विसंगतियाँ हैं। यह हमारी स्थूलदृष्टि है, व्यवहार नय है। सूक्ष्मदृष्टि या निश्चय नय का वक्तव्य व्यवहार

नय के वक्तव्य से भिन्न होता है। उसके अनुसार यह सारा जगत् संवादितापूर्ण है। प्रत्येक द्रव्य समन्वय के सूत्र से पिरोया हुआ है। इसीलिए एक को जानने वाला सबको जानता है और सबको जानने वाला ही एक को जान सकता है। एक में सब और सब में एक—इस सार्वभौम दृष्टि में विसंवादिता में लिए कोई अवकाश नहीं है।

वर्तमान युग की समस्या है विसंवाद—ज्ञान और आचरण की दूरी, कथनी और करनी की दूरी अविस्वादिता की खोज है। उसका बहुत अच्छा माध्यम है गीता। यह व्यापक समस्या है कि ज्ञान और आचरण का मध्यवर्ती सेतु मनुष्य को उपलब्ध नहीं है। बुराई को बुराई जानने वालों की कमी नहीं है। इस अवस्था में 'ज्ञान-अग्नि से कर्म दग्ध हो जाते हैं,' यह वाक्य अर्थवान नहीं लगता। क्या ज्ञान की अनेक कोटियां हैं? वह किस कोटि का ज्ञान है, जिससे कर्म दग्ध हो जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए यह ज्ञातव्य है कि गीता केवल सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं है। वह प्रयोग-ग्रन्थ भी है। उसमें अनेक प्रयोग निर्दिष्ट हैं। जीवन को सिद्धान्त की अपेक्षा प्रयोग अधिक प्रभावित करते हैं। समस्या यह है कि सिद्धान्त प्रयोग की अपेक्षा अधिक सरल है। सिद्धान्त की परम्परा प्रचलित है, प्रयोग की परम्परा अविच्छिन्न नहीं है। गीता की प्रवचनकार अनेक हैं। उसका प्रयोगकार खोजने पर कोई विरल ही मिलेगा। ज्ञान आचरण का मध्यवर्ती सूत्र है—प्रयोग।

अनासक्ति एक महान् प्रयोग है। गीता का नवनीत है—अनासक्ति योग। क्या उसका स्वाध्याय या विवेचन करने वाला कर्म के क्षेत्र में अनासक्त बन जाता है? प्रतिदिन पारायण करने वालों में भी अनासक्ति का अवतरण नहीं दिखाई देता। इसका हेतु है प्रयोग का अभाव।

योगिराज कृष्ण ने कहा—मैं उदासीन की भांति आसीन हूँ। कर्मों में आसक्त हूँ। इसलिए वे कर्म मुझे बांध नहीं पाते।

न च मां तानि कर्माणि निब्रध्नन्ति धनंजय ।

उदासिनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९।१९

प्रयोग के बिना कोई मनुष्य उदासीन नहीं हो सकता। सामान्यतः हर मनुष्य प्रिय और अप्रिय संवेदनो में जीता है। उनसे ऊपर उठना साधना के बिना सम्भव नहीं। गीता में उदासीन या तटस्थ का अर्थ है आत्मवान्। आत्मवान् ही अनासक्त हो सकता है। उसे कर्म नहीं बांध पाते—

योगसंन्यस्तकर्माणि ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४।४१

आत्मवान् होने का प्रयोग है—वैभाविक क्रिया के अकर्तृत्व का अनुभव ।
देखना, सुनना, छूना, सूंघना, श्वास लेना—ये सब इन्द्रिय कार्य हैं ।

इन्द्रियां अपने-अपने विषय में प्रवृत्त हो रही हैं । संवेदन मेरा मौलिक स्वभाव नहीं है । इस प्रकार अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप की अनुभूति करने वाला आत्मवान् हो जाता है । यह सब अभ्यास पर निर्भर है ।

सिद्धान्त की क्रियावन्वित इसलिए नहीं हो रही है कि चर्चा है, अभ्यास नहीं है । सिद्धान्त और प्रयोग दोनों को पृथक कर गीता का रहस्य नहीं समझा जा सकता । सिद्धान्त की सार्थकता का बोध प्रयोग के द्वारा ही संभाव्य बन सकता है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रस्ननाच्छन्स्वपन्श्चसन् ॥ ५।८
'प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ५।९

विपश्यना की अतीत यात्रा

अणुव्रत न्यास द्वारा संचालित अध्यात्म-साधना केन्द्र में विपश्यना शिविर का आयोजन । श्री संत्यनारायणजी गोयनका की उपस्थिति । उसमें कुछ गृहस्थ साधक थे । अधिकांश साधु-साध्वियों का प्रवेश था । मैं भी उसमें सम्मिलित हुआ । साधना पहले से चल रही थी । ध्यान का क्रम भी चालू था । पर जिज्ञासा थी विपश्यना पद्धति के विषय में ।

जैन सूत्रों में पहला सूत्र है 'आचारो' (आचारांग) । उसे पढ़ने वाला 'लोग-विपस्सी' शब्द से अपरिचित नहीं हो सकता । 'लोक' का अर्थ है—शरीर और 'विपस्सी' का अर्थ है—गहरे में उतरकर उसे देखने वाला । ध्यान का अभ्यासी शरीर 'विपश्यी' होता है । मैं भी इस अर्थ से अपरिचित नहीं था ।

आचारांग तथा अन्य जैन साहित्य में विपश्यना के तत्त्व भरे पड़े हैं, पर उसकी व्याख्या विस्मृत हो चुकी, यह कहने में कोई सकोंच का अनुभव नहीं होता । कितनी शताब्दियों से जैन साधक विपश्यना की पद्धति से अपरिचित हैं, यह अनुसन्धेय है । किन्तु यह असंदिग्ध है कि विपश्यना ध्यान की परम्परा उनमें प्रचलित नहीं है । मैं शिविर में गया । केवल अभ्यास के लिए ही मैं नहीं गया; तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि भी मेरे सामने थी । जैन परम्परा में लुप्त पद्धति को पकड़ने का ध्येय भी मेरे सामने था । एक ही श्रमण परम्परा की दो धाराओं—जैन और बौद्ध—में ध्यान की पद्धति समान न हो, उसमें आश्चर्य हो सकता है । यदि वह समान हो तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए । बौद्ध परम्परा में विपश्यना ध्यान की पद्धति प्रचलित है । जैन परम्परा में वह पद्धति प्रचलित नहीं है किन्तु उसका आधार और उसके मौलिक तथ्य विद्यमान हैं । उनके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि किसी समय यह पद्धति जैन परम्परा में प्रचलित थी । भगवान् महावीर इस पद्धति से ध्यान करते थे, यह बहुत प्रामाणिक तथ्य है ।

गोयनकाजी ने शिविरार्थियों को आनापासती का अभ्यास शुरू कराया । मुझे जैन परम्परा में प्रचलित नासाग्रदृष्टि के ध्यान की स्मृति हो आयी । गोयनकाजी बता रहे थे कि मन को ऊपर के होंठ पर केन्द्रित करो । हर लोग नासाग्र पर मन

को केन्द्रित करने में अभ्यस्त थे। वे बर्मी साधना से परिचित हैं, ऊपर के होंठ पर मन को केन्द्रित करने का निर्देश उचित है। चिपटी नाक वालों के लिए होंठ के ऊपरी भाग पर मन को केन्द्रित करना अधिक उपयुक्त है। भारतीय मनुष्यों की नाक लम्बी होती है, इसलिए उनका नासाग्र होंठ से अधिक संवेदशील होता है। गोयनका जी के निर्देशानुसार ऊपर के होंठ पर संवेदनाओं को पकड़ते-पकड़ते में अनायास ही नासाग्र पर पहुंच जाता और वहां संवेदनाओं को पकड़ता तथा श्वास के स्पर्श का अनुभव करता।

मैंने अनुभव किया कि कायोत्सर्ग या शारीरिक शिथिलीकरण के साथ आनापानसती का योग बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीनकाल में कायोत्सर्ग श्वासोच्छ्वास के साथ किया जाता था। वर्तमान वह पद्धति छूट गई। प्राचीन ग्रन्थों में श्वासोच्छ्वास के साथ कायोत्सर्ग करने का विधान देखा और आनापानसती के प्रयोग से उस विधान को समर्थन मिल गया। बौद्ध परम्परा में जो आनापानसती की साधना है वही जैन परम्परा में कायोत्सर्ग की साधना है।

तीसरे दिन विपश्यना का अभ्यास प्रारम्भ हुआ। गोयनकाजी ने साधकों को निर्देश दिया—वे स्थिर आसन में बैठ, आंखें मूंद, शरीर के भीतर देखे, भीतर में होने वाले संवेदनों का अनुभव करे, सुखद या दुःखद जो भी संवेदन हो, उन्हें तटस्थ भाव से देखे, अप्रमत्त रहे, वर्तमान की सच्चाई का अनुभव करें, इस निर्देश के साथ अभ्यास शुरू हो गया। मन को अन्तर्मुखी करने की कुंजी हाथ लग गई। वैसे यह बात अज्ञात नहीं थी। याज्ञवल्क्य गीता और आचार्य हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' को पढ़ने वाला 'उत्तराधार' प्राणायाम से अपरिचित नहीं है। उस प्राणायाम में सिर से पैर तक और पैर से सिर तक, प्रत्येक अवयव का स्पर्श करते हुए प्राणधारा को प्रवाहित किया जा सकता है। किन्तु विपश्यना की पद्धति यही है। इसकी प्रामाणिक जानकारी एक सुपरिपक्व अभ्यासी साधक के द्वारा मुझे पहली बार मिली। एकाग्रता का अभ्यास मुझे पहले से था। इसलिए संवेदनाओं को पकड़ने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। प्रथम अभ्यास में ही कुछ स्पन्दन, कुछ संवेदनाएं और यत्र-तत्र शारीरिक अवरोध अनुभव में आए। मैंने सोचा—मन की सूक्ष्मता होने पर और अधिक सूक्ष्म संवेदनाओं के पकड़ा जा सकता है। अन्तर्मुखी होने, घटना के प्रति तटस्थ रहने का एक निश्चित दृष्टिकोण निर्मित हो गया। कोई बहुत बड़ा शारीरिक या मानसिक लाभ हुआ हो यह मैं नहीं कह सकता। यह कह सकता हूँ कि मुझे धारणात्मक लाभ अवश्य हुआ। मेरी धारणा निश्चित बन

गई कि यह पद्धति वीतरागता के अभ्यास की पद्धति है। इसमें चमत्कार, प्रलोभन या मिथ्या कल्पना के लिए कोई अवकाश नहीं है। यह यथार्थवादी दृष्टिकोण से निष्पन्न यथार्थवादी साधना है।

मैं अभ्यास- काल में अभ्यास करता गया। उसके बाद अवकाश के क्षणों में विपश्यना की आचारांग के सूत्रों से तुलना करता गया। मुझे लगा आचारांग सूत्र में विपश्यना की पूर्ण पद्धति प्रतिपादित है। किन्तु परम्परा की विस्मृति होने के कारण उसकी स्पष्ट पकड़ नहीं है।

विपश्यना का मूल तत्त्व है—अप्रमाद और शरीर-दर्शन। यथार्थ को जानना और घटना के प्रति तटस्थ रहना। आचारांग का एक सूत्र है—पुरुष अप्रमाद की साधना में उत्थित होकर प्रमाद न करे (५/२३)। अप्रमाद की साधना का सूत्र है—शरीर की विपश्यना। इस औदारिक (स्थूल) शरीर का यह वर्तमान क्षण है। इस प्रकार जो वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है; वह सदा अप्रमत्त होता है(५/२१)।

सामान्यतः शरीर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अन्तर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन है स्थूल शरीर। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर है आत्मा। स्थूल शरीर की क्रियाओं, और संवेदनाओं को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस और कर्म शरीर को देखने लग जाता है। शरीर दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल दर्शन से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है।

साधक चक्षु को संयत कर लोक (शरीर) को देखता है। वह लोक के अधोभाग के देखता है, ऊर्ध्वभाग को देखता है और तिरछे भाग को देखता है (२/१२५)। जो पुरुष शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श को भली भाँति जान लेता है, उनमें राग-द्वेष नहीं करता—तटस्थ रहता है, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है(३/१४)।

विपश्यना की बौद्ध परम्परा में धर्मवान् शब्द ही उपयुक्त है। जैनों की विपश्यना पद्धति में आत्मवान् शब्द भी संगत है। जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक को जानता है वह मुनि(ज्ञानी) कहलाता है। वह धर्मविद् और ऋजु होता है(३/५)।

जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला देती है, वैसे ही समाहित आत्मा

वाला अनासक्त पुरुष कर्म-शरीर को प्रकंपित, कृश और जीर्ण कर देता है । (४/३२) । आत्मा की संप्रेक्षा करने वाला अनासक्त हो जाता है(४/३२) ।

आचारांग सूत्र में विपश्यी और संप्रेक्षा—ये दोनों शब्द मिलते हैं । विपश्यना ध्यान की साधना के बाद इन दोनों शब्दों की गहराई में जाने और उनका हार्द समझने का अवसर मिला । एक ही श्रमण परम्परा की दो धाराओं में विपश्यना या प्रेक्षा का प्रचलन होना आश्चर्य की बात नहीं है । आश्चर्य की बात यह है कि बौद्ध धारा ने उसे अब तक अविच्छिन्न रख लिया और जैन धारा उसे अविच्छिन्न नहीं रख सकी । उस विस्मृत तत्व को पुनः स्मृति-पटल पर उतारने में विपश्यना शिविर की साधना निमित्त बनी । इसे मैं सबसे बड़ा लाभ मानता हूँ ।

मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि

कहानी बचपन से शुरू होती है। कोई बच्चा आगे क्या होगा, यह सब नियति के गर्भ में होता है। उसका स्पष्ट बोध स्वयं को भी नहीं होता और दूसरों को भी नहीं होता। उसका पूर्वाभ्यास स्वयं को भी हो जाता है। मैं लगभग आठ वर्ष का था। एक अज्ञात भिक्षु आया। वह घर-घर भिक्षा मांगता घूम रहा था। वह मेरे पड़ोसी के घर पहुंचा। मेरे एक साथी को देखकर वह बोला—‘यह बच्चा एक साल के बाद चल बसेगा।’ उसने मुझे देखकर कहा—‘यह बालक योगी होगा, योगिराज होगा।’ मैं नहीं जानता था, योगी क्या होता है? इन दोनों घटनाओं का लोगों को पता चला। बात सारे लोगो में फैल गई। पर एक अनजाने भिक्षु की बात थी, इसीलिए उस पर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। सप्ताह बीता और मेरा साथी अचानक इस संसार से चल बसा। तब लोगों का ध्यान उस भिक्षु की भविष्यवाणी की ओर गया। उसे खोजा, पर वह कहीं दूसरी जगह जा चुका था। उसका कोई पता नहीं चला।

मेरी बहन का विवाह था। घर में काफी लोग आए हुए थे। मेरे मन में एक तरंग उठी और मैं आंखों पर रूमाल बांधकर चलने लगा। जब दरवाजे के पास पहुंचा तो सिर भीत से टकरा गया। ललाट के मध्य में चोट लगी, ठीक उसी स्थान पर जो ज्योति-केन्द्र (पिनियल ग्लैन्ड) का स्थान है। कभी-कभी बाहर का आघात भी भीतर की चेतना को जगाने का निमित्त बन जाता है। चेतना बाहर में नहीं जागी हो, पर भीतर में उसका प्रस्फुटन शुरू हो गया।

नौ वर्ष पूरे हो गए। ‘मेमनसिंह’ (वर्तमान में बंगला देश) में मेरी चचेरी बहन का विवाह था। उस उद्देश्य से मां और चाचा के साथ मैं वहां गया। बीच में हम कलकत्ता पहुंचे। वहां हम सभी बूआ के पास ठहरे। भोजन के पश्चात् मेरे चाचा और उनकी दुकान के कर्मचारी कलकत्ता के बाजार में सामान खरीदने गए। मैं भी उनके साथ चला गया। वे दुकानों में सामान खरीदते रहे और मैं इधर-उधर देखता रहा। रास्ते में चलते-चलते मैं कहीं रुक गया और वे आगे बढ़ गए। न उनको ध्यान रहा और न मुझे ध्यान रहा। मैं अकेला रह गया।

मुझे नहीं पता कि मुझे कहां जाना है । न कोठी का पता और न उसके नम्बर का पता । पर पता नहीं मेरी अन्तश्चेतना को इन सबका कैसे पता चला ! मुझे जब यह लगा कि मैं अकेला रह गया हूं तब मैंने सबसे पहले एक काम किया कि मैंने अपने हाथ की घड़ी खोली और गले में से स्वर्णसूत्र को निकाला और दोनों को जेब में रख लिया । मैं पीछे मुड़ा और अज्ञात की ओर चल पड़ा । मुझे नहीं पता, कहां जाना है, कहां जा रहा हूं । पर अन्तश्चेतना को कोई पता था, मैं ठीक स्थान पर पहुंच गया । कुछ समय बाद मेरे चाचा को पता चला कि मैं उनसे बिछुड गया हूं । तब उन्होंने मुझे ढूंढने के लिए दौड़धूप की । पुलिस-स्टेशन पर गए । मेरे गुम होने की रिपोर्ट लिखाई और वे मुझे खोजते-खोजते घर गए । नीचे से ही उन्होंने चिल्लाना शुरू कर दिया—‘नत्थू हमसे बिछुड गया । उसका कोई पता नहीं चला ।’ उनकी आंखें डबडबाई हुई थी । वे बहुत परेशान दीख रहे थे । उनकी बहन ने उन्हें कुछ क्षणों तक कोई बात नहीं बताई । फिर अचानक मुझे भीतर से बाहर लाकर उनके सामने खड़ा कर दिया । उनकी सारी परेशानी दूर हो गई । उन्होंने पूछा—‘तू यहां कैसे पहुंचा ?’ मेरे पास इसका कोई उत्तर नहीं था । जीवन में सब कुछ उत्तरित नहीं होता । कितना अच्छा होता कि मनुष्य अनुत्तरित का उत्तर दे पाता ।

मेरे पिताजी चार भाई थे । बड़े भाई का नाम था गोपीचन्दजी । उनके एक पुत्र था । उनका नाम था महालचन्दजी । युवावस्था में अचानक उनका देहावसान हो गया । पिता दुःखी । सारा परिवार दुःखी । मुझसे वे बहुत स्नेह रखते थे । मुझे भी बड़ा दुःख हुआ । अन्तर्मन मे एक चोट लगी । जीवन के प्रति किसी अज्ञात कोने में एक अनास्था का भाव पैदा हो गया ।

मुनि छबीलजी का चातुर्मास हुआ । मैंने जीवन का एक दशक पूरा कर लिया । दूसरे दशक में प्रवेश हो चुका था । उनके सहवर्ती मुनि मूलचंदजी ने मुझे प्रेरित किया—‘मैं तत्त्वज्ञान पढ़ूं । मैंने अध्ययन शुरू किया । एक दिन मुनिद्वय ने मुझे मुनि बनने की बहुत हल्की-सी प्रेरणा दी । मेरा अन्तःकरण झंकृत-सा हो गया, जैसे कोई बीज अंकुरित होना चाहता हो और उस पर पानी की फुहारें गिर जाएं । जैसे मेरा अन्तर्मन मुनि बनना चाहता हो और उनकी प्रेरणा की ही प्रतीक्षा हो । मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ । मैंने अपनी मां से कहा—‘मैं मुनि होना चाहता हूं ।’ मां ने कहा—‘मैं भी साध्वी होना चाहती हूं । पर कितना कठिन है यह मार्ग और कितनी कठिन है इसकी साधना ! तूने सोचा है ?’ मैंने कोई उत्तर नहीं दिया

अनुत्तरित को उत्तरित करना मुझे जरूरी नहीं लगा । मेरे पिता का साया मुझ पर से बहुत जल्दी उठ गया था । मैं ढाई मास का था तब उनका स्वर्गवास हो गया था । यदि कहूं तो बात अस्वाभाविक लगती है । पर मेरी स्मृति कहती है कि मैंने उन्हें मृत्यु-शैया पर देखा है । भाई कोई था नहीं । दो बहनें थीं । दोनों विवाहित ।

हमने पूज्य कालूगणीजी के दर्शन करने का निश्चय किया । हम गंगाशहर पहुंचे । पुज्य कालूगणीजी के दर्शन किये । उनके प्रदीप्त मुखमंडल की आभा और उनकी वह मुद्रा अब भी मेरी स्मृति में वैसी ही अंकित है । मुनि मूलचंदजी ने कहा था—'वहां तुम मुनि तुलसी के दर्शन जरूर करना । वे आयु में छोटे हैं, पर बहुत भाग्यशाली हैं । उन पर पूज्य कालूगणी की असीम कृपा है ।' मैंने वहां पूछा—'मुनि तुलसी कहां हैं ?' एक भाई ने बताया—'वे छत पर बैठे हैं ।' मैं वहां गया, दर्शन किए । एकटक उनके सामने देखता रहा । उन्होंने पूछा—'कहां से आए हो ?' 'टमकोर से आया हूं'—मैंने उत्तर दिया । मौखिक प्रश्न और उत्तर बहुत नहीं चला, परन्तु मूक प्रश्नोत्तर बहुत चला और वह गहरे मे उतर गया । हमने दीक्षा के लिए प्रार्थना की और उसकी पूर्व स्वीकृति मिल गई । उस दिन वहां रुके और फिर गांव चले आए ।

टमकोर एक छोटा गांव है । उस समय वहां कोई राजकीय विद्यालय नहीं था । मैं गुरु जी की पाठशाला में पढ़ा । वर्णमाला पढ़ी, कुछ पहाड़े पढ़े और कुछ विशेष पढ़ने का योग नहीं मिला । ग्यारहवां वर्ष आधा बीता । माघ शुक्ला दसमी, वि० सं० १९८७ के दिन पुज्य कालूगणी का वरदहस्त हमारे सिर पर टिका । मैं अपनी माता के साथ दिक्षित हो गया । हमारी दीक्षा भंशालीजी के बाग में हुई । वहां से प्रस्थान कर पूज्य कालूगणी गधैयों के नोहरे में आए । वही उनका प्रवास था । वहां पहुंचते ही उन्होंने मुझे निर्देश दिया—'तुम तुलसी के पास जाओ और वहीं तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा होगी ।' गंगाशहर में अज्ञात की उर्वरा में एक बीजवपन हुआ था, उसे अब अंकुरित होने का अवसर उपलब्ध हो गया ।

मुनि-दीक्षा स्वीकारने के पश्चात् क्या करना चाहिए—इसकी दिशा मेरे सामने स्पष्ट नहीं थी । अज्ञात जब सक्रिय होता है तब ज्ञात की दिशा स्पष्ट नहीं होती । शायद ऐसा भी होता होगा कि ज्ञात की दिशा स्पष्ट होने पर अज्ञात की सक्रियता कम हो जाती है । लोगों ने मुझे बहुत बार पूछा—आप इतनी छोटी अवस्था में मुनि क्यो बने ? मैं इसका क्या उत्तर देता ? कुछ गढ़े-गढ़ाये उत्तर होते हैं । मैं उसमें कम विश्वास करता हूं । इसलिए मैं नहीं कहता कि मुझे संसार असार लगा

इसलिए मैं मुनि बन गया। अथवा जन्म-मरण के चक्कर से डरकर मैं मुनि बन गया। अथवा नरक के भय और स्वर्ग के प्रलोभन से मैं मुनि बन गया। मैं एक ही उत्तर देना पसंद करूंगा और वहीं उत्तर देता रहा हूँ कि कोई अज्ञात की प्रेरणा थी और ज्ञात जगत् की घटना घटी और मैं मुनि बन गया। हम अज्ञात को छोड़कर केवल ज्ञात को समझने का प्रयत्न करते हैं, केवल उसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहते हैं, वह सच होने पर भी अधूरा सच होता है, पूरा सच नहीं होता। मैं मुनि बनने और मुनि तुलसी की छत्रछाया में नयी जीवन-यात्रा चलाने को एक अज्ञात की प्रेरणा मानता हूँ। ज्ञात जगत् में इसका समाधानकारक उत्तर मुझे उपलब्ध नहीं होगा।

मेरे अध्ययन का प्रारंभ दसवैकालिक से हुआ। वह एक जैन आगम है। भाषा उसकी प्राकृत है और उसमें मुनि की जीवन-यात्रा सांगोपांग निरूपित है। मेरा अध्ययन बहुत मंथर गति से चला। पूरे दिन में उसके दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाता था। इस मंथर गति से मुनि भी प्रसन्न नहीं थे और पूज्य कालूगणी भी प्रसन्न नहीं थे। वे चाहते थे मैं त्वरित गति से आगे बढ़ूँ। कुछ दिनों तक मैं उनकी चाह को पूरा नहीं कर सका। संस्कृत और प्राकृत का कभी नाम भी नहीं सुना था। अपरिचित होने में प्रारंभिक कठिनाई होती है। मैंने भी उस कठिनाई का सामना किया। थोड़े दिनों बाद वह कठिनाई दूर हो गई। मेरी गति तेज हुई और मैं प्रतिदिन आठ-दस श्लोक कंठस्थ करने लगा। अब सब प्रसन्न थे।

मैंने अनुभव किया कि मैं उपालंभ और साधुवाद, भय और प्रेम—दोनों का मिश्रित जीवन जी रहा हूँ। मुनि तुलसी प्रमाद होने पर उलाहना भी बहुत देते और सही काम करने पर साधुवाद भी देते। मेरे प्रति उनके अन्तःकरण में आकर्षण भी था और वह अनुशासनात्मक भय भी बनाए रखते थे। नीति का वचन है—भय के बिना प्रीति नहीं होती। मेरा अनुभव यह है कि प्रीति के बिना भय नहीं होता। दोनों सचाइयाँ अधूरी हैं, पर दोनों में सत्यांश अवश्य है। पूज्य कालूगणीजी जोधपुर चातुर्मास कर रहे थे। इस समय मुनि तुलसी की पूरी पाठशाला चल रही थी। उसमें आठ-दस साधु पढ़ रहे थे। अनुशासन कठोर था। केवल अध्ययन। परस्पर बातचीत करने के लिए कोई समय नहीं था। हम पढ़ते-पढ़ते थक जाते। मन होता परस्पर मिलें और बातचीत करें। मुनि तुलसी के सामने बातचीत कर नहीं सकते थे। वे प्रयोजनवश जब दूसरे स्थान पर जाते तो हम बातचीत करने बैठ जाते। उनके आने का पता चलता तब फिर सब अपना पाठ

कंठस्थ करने लग जाते । कभी पता नहीं चलता तो उलाहना मिलता । कभी-कभी हम एक साधु को सीढ़ियों के पास बैठा देते । वह मुनि तुलसी के आने की सूचना देता और हम सब अपने अध्ययन में लग जाते । यदि हमारे मन में उनके प्रति प्रीति नहीं होती तो हम उलाहना के भय से मुक्त हो जाते । जो केवल डरता है वह ढीठ बन जाता है । डर के पीछे भी एक बन्धन सूत्र होता है और वह है—प्रीति । छापर की घटना है । एक दिन मुनिवर ने मुझे कहा—“आज तुम्हें ‘विगय’ नहीं खानी है ।” यह एक भूल का प्रायश्चित्त था और मेरे जीवन में ऐसे ‘प्रायश्चित्त का यह पहला ही अवसर था । भोजन का समय हुआ । मुनिश्री चम्पालालजी, मुनिवर और मैं—तीनों एक साथ भोजन करते । गोचरी में आम का रस आया । ‘मैं नहीं खाऊँ और वे खाएँ’—ये उन्हें अच्छा नहीं लगा । उन्होंने कहा—तुम खाओ । मैंने कहा—नहीं खाऊँगा । आपने कहा था कि तुम्हें विगय नहीं खानी है तो अब मैं कैसे खाऊँ ? मैं अपनी बात पर अड़ गया । हमारी भोजन की मंडली बड़ी थी । मुनिश्री मगनलालजी की सन्निधि में लगभग बीस-पच्चीस साधु एक मंडली में भोजन करते थे । उन सब के बीच कोई बातचीत नहीं की जा सकती । मुनिवर ने कुछ शब्दों के संकेतों से मुझे विवश कर दिया और मैं अपने बालहठ को छोड़ने के लिए तैयार हो गया । एक किशोर के विकास में सहयोगी बनना बहुत कठिन बात है । उसके मन को तोड़कर चलने वाला भी उसका सहयोगी नहीं हो सकता । सहयोगी वह हो सकता है जो सब कुछ उसके मनचाहा भी न करे और सब कुछ अनचाहा भी न करे, दोनों के बीच संतुलन स्थापित कर सके । अध्ययन में मन कम लगता । हमने (मैंने तथा मुनि बुद्धमलजी ने) अभिधान चिंतामणि को कंठस्थ करना शुरू किया । बड़ी मुश्किल से दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाते । हमारी रुचि इधर-उधर घूमने और बातें करने में ज्यादा रही । हमें इस स्थिति से बचाने के लिए मुनिवर हमारे साथ श्लोक रटते रहते । दो-तीन श्लोक रटने में आधा घंटा का समय बीत जाता, फिर दिन भर हम छुट्टी ही मनाते । हंसना और मुस्काना—यह कोई सहज ही आदत बन गई थी । बहुत बार ऐसा होता कि कुछ शब्दों के उच्चारणकाल में हम हंस पड़ते । तब हमारा पाठ बंद हो जाता । हम सोचते बहुत अच्छा हुआ । फिर हमें राजी कर अध्ययन कराया जाता । किशोर-रावस्था की कुछ जटिल आदतों को यदि मनोवैज्ञानिक ढंग से न सम्भाला जाता तो शायद हम बहुत नहीं पढ़ पाते । हम जब श्लोक कंठस्थ नहीं करते तो हमें खड़ा कर दिया जाता । खड़ा रहना मेरे लिए बहुत कठिन था । आधा घंटा तक

खड़ा हो जाना बहुत असह्य, हो जाता, तब पानी पीने का या और किसी काम का बहाना लेकर मैं इधर-उधर घूम आता। यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक नहीं चली, लगभग दो-ढाई वर्ष तक वह चली। उसके बाद हमें यथार्थ का कुछ-कुछ अनुभव होने लगा। जब तक यथार्थ का अनुभव नहीं हुआ तब तक इस कठोर अनुशासन में रहना बड़ा कठिन लगा। एक बार हम पूज्य कालूगणीजी के पास पहुंचे। हमने उनके चरणों में एक विनम्र प्रार्थना रखी। हमने कहा—‘गुरुदेव ! तुलसी स्वामी हम पर कड़ाई बहुत करते हैं।’ पूज्य गुरुदेव ने पूछा—‘किसलिए ?’ हमने कहा—‘पढ़ाने के लिए।’ फिर पूछा—‘और किसी के लिए तो कड़ाई नहीं करता ?’ हमने कहा—‘नहीं।’ तब गुरुदेव बोले—‘पढ़ाई के लिए तो वो करेगा, इसमें तुम्हारी नहीं चलेगी।’ हम आवाक् रह गए। आए थे आशा लिए, हाथ लगी निराशा। आचार्यवर ने कहानी सुनाई—राजा के पुत्र के सिर पर अध्यापक ने अनाज की पोटली रख दी। पढ़ाई समाप्त हुई। विद्यार्थी की परीक्षा के लिए अध्यापक राज-सभा में जा रहा था। बीच में अनाज की दुकान आयी। गेंहू खरीदे। उनकी पोटली बांधी और विद्यार्थी राजकुमार को उसे उठाने को कहा। वह अस्वीकार कैसे करता, पर वह लद गया भार से और लज्जा से। परीक्षा हुई। वह सब विद्यार्थियों में उत्तीर्ण हुआ। राजा बहुत प्रसन्न हुआ अध्यापक से पूछा—‘राजकुमार ने विद्यार्जन कैसे किया ?’ अध्यापक ने कहा—‘बहुत अच्छे ढंग से किया, विनयपूर्वक किया।’ राजकुमार से पूछा—‘गुरुजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया ?’ राजकुमार बोला—‘बारह वर्ष तक तो अच्छा किया पर आज...।’ राजा ने पूछा—‘आज फिर क्या हुआ ?’ राजकुमार ने पोटली की बात सुनाई और राजा का चेहरा तमतमा उठा। पूछा तो उत्तर दिया—‘वह भी पढ़ाई का एक अंग था। वह पाठ राजकुमार को ही पढ़ाना था। आगे चलकर दंड वही देगा। भार उठाने में कितना का कष्ट होता है, इसका भान कराना था। यह भान हो गया है। अब वह किसी से अधिक भार नहीं उठवाएगा।’ राजा के पास कहने के लिए अब कुछ भी नहीं था। आचार्यवर ने कहा— अध्यापक राजकुमार से भी पोटली उठवा सकता है, तब फिर...

हमारे पास भी वापस कहने को कुछ नहीं था। हम चले आए मन में और चिन्ता पैदा हो गई कि मुनिवर को पता चल जाएगा तो वे क्या कहेंगे ? पढ़ने को कैसे जाएं ? सूर्योदय हुआ। श्लोक-वाचन के लिए सकुचाते-से गए और बांचकर बिना कुछ उलाहना लिए आ गए। कई दिनों तक मन में भय रहा, पर

आपने कभी हमें भयभीत नहीं किया। आपको उस स्थिति का पता चल गया, पर हमे यह पता नहीं चलने दिया कि आपको उस स्थिति का पता चल गया है। अनुशासन एक कला है। उसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कब सहा जाए। सर्वत्र कहा जाए तो धागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है। इसलिए वह मर्यादाओं की रेखाओं को जानकर चलता है।

हमारे संघ में उन्हीं दिनों व्याकरण के दो ग्रन्थ तैयार हुए। मुनि चौथमलजी स्वामी और पंडित रघुनन्दनजी के संयुक्त प्रयास से 'भिक्षु शब्दानुशासन' तैयार हुआ और 'कालुकौमुदी' का पाठ कंठस्थ करना शुरू किया और उसकी साधनिका भी प्रारम्भ की। मेरी स्मृति और बुद्धि—दोनों का विकास हुआ नहीं था। मेरे सब साथी साधनिका को हृदयंगम करते जाते थे और मुझे उसे समझने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। बीदासर की घटना है। स्वरान्त पुल्लिंग की साधनिका चल रही थी। हमे बताया गया 'जिन' शब्द की प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय का योग करने पर 'जिनः' रूप बनता है। मैंने पूछा—'हम 'सि' ही क्यों जोड़ें?' इसके स्थान पर 'ति' क्यों न जोड़ें? कितना अजीब प्रश्न था! कोई मेधावी छात्र ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता। पर मैं बहुत छोटे गांव से निष्क्रमण कर आया था और गांव में मेधा या बुद्धि को विकसित होने का अवसर नहीं मिला, इसलिए ये कठिनाई आ रही थी। आचार्य हरिभद्र ने 'ग्राम' शब्द की व्युत्पत्ति की है—जो बुद्धि आदि गुणों का प्रास करता है, वह ग्राम है। बौद्धिक विकास के लिए एक वातावरण चाहिए। ग्राम में वैसा वातावरण नहीं मिलता, इसलिए ग्राम में रहने वालों की बुद्धि कुंठित हो जाती है। उनमें बुद्धि का बीज नहीं होता, ऐसा नहीं है। उसे प्रस्फुटित होने की सामग्री नहीं मिलती, यह एक सच्चाई है। मैं एक छोटा बच्चा था। मुझे बुद्धि के विकास और कुंठा—ये दोनों अवसर नहीं मिले। मेरी मन्दता का कारण शायद अवस्था के साथ जुड़ा हुआ था। एक निश्चित अवस्था से पहले बुद्धि का विकास नहीं होना मेरी नियति को मान्य था।

पूज्य कालूगणीजी को मैं बहुत प्रिय था। वे मुझ पर अनुशासन कम करते, करुणा दृष्टि से प्लावित अधिक करते। श्रीडूंगरगढ़ की घटना है। सर्दी का मौसम था। मैं पूज्य गुरुदेव के सामने बैठा था। उन्होंने मेरे भावों को पढ़ा और पूछा—'क्या नाश्ता नहीं मिला?' मैंने कहा—'नहीं मिला।' क्या आजकल बन्द हो गया? मैंने कहा—'हां अभी बन्द है।' पूज्य गुरुदेव ने तत्काल साध्वी सोनांजी

से कहा—‘नाश्ता ला दो ।’ टूटी हुई श्रृंखला जुड़ गई । नाश्ता कोई बड़ी बात नहीं थी । प्रश्न है स्नेह का, करुणा का । यदि बालक को स्नेहपूर्ण वातावरण मिलता है तो विकास की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं । ताडना में सिकुडन पैदा होती है और स्नेह में विकास । ताडना परिस्थिति विशेष में होने वाली विवशता है । स्नेह मनुष्य का निसर्ग है । स्नेह की भावना के साथ जल का सिंचन पा एक पौधा भी लहलहा उठता है तब मनुष्य की बात ही क्या ! मैंने ताडना बहुत कम पाई और स्नेह बहुत अधिक पाया । विकास का निमित्त पाने में मैं सचमुच सौभाग्यशाली रहा हूं ।

पूज्य कालूगणी का एक विशेष स्वभाव था । अपने पास बैठे बाल मुनियों को वे कुछ न कुछ सिखाते रहते । एक बार उन्होंने हमें संस्कृत का एक श्लोक सिखाया—

‘बालसखित्वमकारणहास्यं, स्त्रीषुविवादमसज्जनसेवा ।
गर्दभयानमसंस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति ॥’

इस श्लोक का कुछ अनुदान हमें मिला । हम लघुता की दिशा में नहीं बढ़ना चाहते थे । संस्कृत के प्रति हमारा अनुराग बढ़ा और अकारण हंसने की आदत भी बदलने लगी ।

एक बार उन्होंने हमें दोहा सिखाया—

‘हर डर गुरू डर गाम डर, डर करणी में सार ।
तुलसी डरे सो ऊबरे, गाफिल खावे मार ॥’

इस दोहे ने एक भावना पैदा की । हम मुनि तुलसी से डरने लगे । मैं गोस्वामी तुलसी से परिचित नहीं था । मुनि बुद्धमलजी भी परिचित नहीं थे । हमने उसका यही अर्थ लगाया कि पूज्य गुरूदेव हमें यह संबोध दे रहे हैं कि जो तुलसी से डरता है वह उबर जाता है । सचमुच हमने इस संबोध को उबारा और हम उबर गए ।

पूज्य कालूगणी हमारे अध्ययन के बारे में कभी-कभी जानकारी लेते थे । वे मुख्य रूप से मुनि तुलसी पर ही निर्भर थे । बीदासर की घटना है । पूज्य गुरूदेव ने सभी बाल साधुओं को हस्तलिपि दिखलाने को कहा । मेरे सहपाठी और समवयस्क सभी साधुओं की हस्तलिपि सुन्दर हो गई थी । मेरी हस्तलिपि सुन्दर नहीं बन पायी । मेरी हस्तलिपि जैसे ही सामने रखी गई, पूज्य गुरूदेव

मुस्करा दिए। उन्होंने कोई टिप्पणी नहीं की। मंत्री मुनि मगनलाल जी स्वामी वहीं बैठे थे। उन्होंने कहा—नाथूजी (वे मुझे इसी सम्बोधन से सम्बोधित किया करते थे) के अक्षर तो छत पर सुखाने जैसे हैं। छत पर उपले सुखाए जाते हैं। ये अक्षर भी वैसे ही टेडे-मेड़े हैं। यह था उनके कहने का भाव। मुझे कुछ संकोच का अनुभव हुआ। बात वही समाप्त हो गई। पर अन्तर्मन मे बात समाप्त नहीं हुई। 'मैं पीछे नहीं रहूंगा, सबसे आगे जाऊंगा'—अन्तश्चेतना में यह संकल्प जाग गया और दीक्षा-पर्याय के तीन वर्ष पश्चात् वह संकल्प बाह्य जगत में प्रकट होने लगा।

पूज्य कालूगणी बीकानेर राज्य के थली प्रदेश से प्रस्थान कर जोधपुर चातुर्मास करने जा रहे थे। डीडवाना पहुंचते-पहुंचते मेरी आंखों में 'दाने' पड़ गए। उपचार किया पर कोई लाभ नहीं हुआ। आंखों से पानी बहने लगा। पाठ बिलकुल बन्द हो गया। मेरे सहपाठी साधुओं को आगे बढ़ने का अच्छा मौका मिल गया। डीडवाना में मुनि तुलसी को नाममाला सुना रहा था। उच्चारण में अशुद्धियां आने लगीं। मुनिवर ने उलाहने के भाव में कहा—मैं तुम्हें आगे कुछ नहीं पढ़ाऊंगा। आगे का अध्ययन बन्द करो। जो ग्रन्थ कंठस्थ किए हुए है, उन्हें शुद्ध करो, फिर आगे बढ़ो।

हम विहार करते-करते लूनी जंक्शन पहुंचे। पूज्य कालूगणी ने बालोतरा की ओर विहार किया और मेरी आंखों से पानी ज्यादा गिरने लगा, इसलिए मुझे मुनि हेमराजजी के साथ जोधपुर भेज दिया। पढ़ना बिलकुल बन्द था। मुनि हेमराजजी ने मुझे प्रोत्साहित किया—तुम प्रतिदिन कंठस्थ-पाठ का जितना पुनरावर्तन करोगे उतना मैं अंकित करता जाऊंगा और पूज्य कालूगणी के यहां पधारने पर उन्हें सब निवेदित कर दूंगा। मैंने पुनरावर्तन शुरु किया। अभिधान चिन्तामणि के पन्द्रह सौ से अधिक श्लोक है। मैं एक दिन में कई बार उसका पुनरावर्तन कर लेता। ढाई मास के पश्चात् पूज्य गुरुदेव चातुर्मास के लिए वहां पधारे। मुनि हेमराजजी ने मेरे पुनरावर्तन का लेखा-जोखा उनके चरणों में प्रस्तुत किया। वह पुनरावर्तन कई लाख श्लोकों की संख्या का हो गया था। पूज्य कालूगणीजी बहुत प्रसन्न हुए और मुझे साधुवाद दिया और साथ-साथ मुनि हेमराजजी को भी साधुवाद मिला। मैं अपने विद्यागुरु के पास गया। मैंने पाठ के पुनरावर्तन की बात बताई। वे प्रसन्न हुए, पर पूरे प्रसन्न नहीं हुए। उन्हें पता था कि मैंने गलतियों भरे पाठ का ही पुनरावर्तन किया है। जब उन्हें दशवैकालिक,

कालुकौमुदी पूर्वार्ध और अभिधान चिंतामणि का पाठ सुनाया तो वे प्रसन्न ही नहीं हुए, आश्चर्य से भर गए। 'पाठ शुद्ध कैसे हुआ'—इस आश्चर्यपूर्ण प्रश्न का उत्तर कौन देता ? मैं पुस्तक पढ़ता नहीं था, केवल पुनरावर्तन करता था। मुझे स्वयं भी पता नहीं कि पाठ शुद्ध कैसे हो गया। आज उस घटना का उत्तर आसान लगता है। आंखें बाह्य जगत के साथ अधिकतम संपर्क स्थापित करती हैं और अधिकतम विक्षेप उत्पन्न करती हैं। उन दिनों आंखों को सहज ही संयम हो रहा था। बाहर जाने वाली चेतना भीतर लौट रही थी और भीतर की सक्रियता बढ़ रही थी। कोई आश्चर्य नहीं कि जिस शुद्ध रूप में पाठ कंठस्थ किया था, उसी पाठ की चेतना जाग गई और पाठ-शुद्धि अपने आप घटित हो गई। अब मेरी अवस्था बदल चुकी थी। सबसे पीछे रहने वाला मैं अब दौड़ में आगे जाने की तैयारी करने लगा। मैंने निश्चय किया—अब मैं सबसे आगे रहूंगा। मैंने अपने साथियों से पूछा कि वे कालुकौमुदी के उत्तरार्ध का कौन-सा हिस्सा कंठस्थ कर रहे हैं। पर किसी ने बताया नहीं। मैंने कंठस्थ करने की गति तेज कर दी। चातुर्मास पूरा होते-होते मैं प्रायः सबसे आगे चला गया और पीछे किसी से भी नहीं रहा। चातुर्मास के मध्य में एक बार कालूगणी ने हम सब विद्यार्थियों की परीक्षा ली। उसमें भी मेरा स्थान अच्छा रहा। 'मांडा' गांव में पाठ के उच्चारण की परीक्षा हो रही थी। पूज्य कालूगणी स्वयं परीक्षा ले रहे थे और मंत्री मुनि मगनलालजी पास में बैठे थे। कुछ विद्यार्थी साधुओं की परीक्षा हो चुकी थी। मैं शौच से निवृत्त होकर कुछ विलम्ब से आया। मंत्री मुनि ने कहा—नाथूजी ! आओ और इस पाठ का उच्चारण करो। मैंने उस पाठ को पढ़ा और उसमें सफल रहा। मंत्री मुनि बोले—आज तो यह बहुत सफल रहा है। तब पूज्य कालूगणी ने कहा—अभी बच्चा है। अभी सफलता का क्या पता चले ?

पाली में मैंने पाश्र्वनाथ स्रोत की प्रतिलिपि की। वह प्रति पूज्य गुरुदेव के सामने प्रस्तुत थी। उन्होंने उसे देखा और प्रसन्नमुद्रा में कहा—'अब तुम्हारी लिपि ठीक हो गई।' मुझे अपनी सफलता पर विश्वास होता गया।

पूज्य कालूगणी जोधपुर में चातुर्मास बिता रहे थे। भाद्रव शुक्ला पूर्णिमा उनके पट्टारोहण का दिन था। हम विद्यार्थी साधु भी गुरुदेव के अभिनंदन में कुछ बोलना चाहते थे। हमने मुनिवर से प्रार्थना की और उन्होंने हम सबके लिए श्लोक बना दिए। मुझे श्लोक पसन्द नहीं आए। मैंने कहा—'आपने दूसरे साधुओं के लिए श्लोक अच्छे बनाए हैं, मेरे श्लोक उन-जैसे नहीं हैं।' मुनिवर ने कहा, 'तुम्हारे

श्लोक अच्छे हैं। मैं अपने आग्रह पर अड़ा रहा और आप मुझे समझाते रहे। आखिर मैं माना ही नहीं, तब आप बोले—‘आज से यह प्रतिज्ञा है कि भविष्य मे फिर तुम्हारे लिए श्लोक नहीं बनाऊंगा।’ इस प्रतिज्ञा ने मेरे लिए कविता का द्वार खोल दिया। उस आग्रह पर जब-जब मैं इस श्लोक को पढ़ता हूँ तो मुझे मेरे अज्ञान पर हंसी आती है। मैं मानता हूँ कि मुनिवर ने जो निष्ठा वरदान देना चाहा, उसे मैं समझ नहीं सका। मेरे न समझने पर भी उन्होंने वह वरदान मुझे दे दिया। तब मैं समझ सका कि श्लोक कितना मूल्यवान है—

‘तात के पुत्र अनेक हुवै पर नन्दन के पितु एक कहावै,
ज्यूं घन के बहु इच्छु हुवै पिण चातक तो चित्त मेघ ही ध्यावै।
सागर के हुवै मच्छ कच्छ बहु मीन तो चित्त समुद्र ही चावै,
त्योँ गुरु के बहु शिष्य हुवै पिण एक गुरु नित शिष्य कै भावै ॥’

प्रत्येक व्यक्ति के मन में विकास करने की, आगे बढ़ने की भावना रहती है। एक किशोर में भी यह भावना बीजरूप में रहती है। उसे प्रोत्साहन मिलता है तो वह प्रस्फुटित हो जाती है। मुनिवर मुझे बार-बार कहते हैं—‘तुम श्रम नहीं करोगें तो पीछे रह जाओगे और पूरा श्रम करोगें तो सबसे आगे जा सकते हो। पीछे रहने की बात कभी अच्छी नहीं लगती। मन में एक स्पर्धा जाग गई और मैं सदा इस स्थिति में जागरूक हो गया। एक दृढ़ संकल्प जाग गया—मैं किसी से पीछे नहीं रहूंगा। पूज्य कालूगणी कहा करते थे—‘बातेडी की बिगडे’; ‘जो बातूनी होता है, बातों में ही रस लेता है, पढ़ने में रस नहीं लेता, वह बिगड़ जाता है।’ इस उक्ति ने मन पर चोट की और बातों में रस कम होने लगा। मुनिवर ने कितनी बार इस सच्चाई को समझाया—अभी तुम बातें करोगें तो जीवन भर दूसरों के नियंत्रण में रहना होगा। इस समय अध्ययन करोगे तो बड़े होने पर स्वतंत्र हो जाओगे। फिर चाहे जितनी बातें करना, कोई टोकने वाला नहीं होगा। युक्ति-संगत बात मन में घर कर जाती है। कोरा आक्रोश या कोरा उलहाना जहां प्रतिक्रिया पैदा करता है वहां व्यक्ति संगत बात अन्तःकरण को छू लेती है। सचमुच आकर्षण की धारा बदल गई। मन अधिक से अधिक ज्ञानार्जन करने के लिए उत्सुक हो गया।

उन दिनों कंठस्थ करने की परम्परा बहुत प्रचलित थी। मैं एक दिन पूज्य कालूगणी के पास पहुंचा। उन्होंने कहा—‘अभी धातुपाठ कंठस्थ किया या नहीं?’ मैंने कहा—‘नहीं किया।’ उन्होंने कहा—‘कंठस्थ करो।’ मैंने उसे कंठस्थ

कर लिया। मुनिश्री तुलसी ने आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण कंठस्थ करना शुरू किया। पूज्य गुरुदेव ने मुझे कहा—मैं अपने विद्या-गुरु के साथ कैसे चल पाऊंगा? पर मुनिवर ने यही चाहा और प्राकृत व्याकरण को कंठस्थ करने में उन्होंने मुझे अपना साथी बना लिया।

मैंने जोधपुर में आंखों की चिकित्सा कराई। कुछ लाभ हुआ। पर पर्याप्त लाभ नहीं हुआ। दोनों की चुभन और पानी गिरना—ये चलते रहे। मुनिवर ने अनेक उपाय किए। वे केवल अध्ययन ही नहीं, जीवन की सारी व्यवस्था को संभाले हुए थे। आंख का प्रश्न है। हम लोग 'खेरवा' में थे। आंखों की चुभन के कारण नींद नहीं आ रही थी। मन उद्वेलित हो उठा। मन में संकल्प और विकल्प का जाल-सा बिछ गया। सोचा, आंखों की यही स्थिति रही तो जीवन व्यर्थ ही चला जाएगा। मैं अध्ययन नहीं कर पाऊंगा और न ही विकास कर पाऊंगा। पूज्य गुरुदेव के साथ भी कैसे रह सकूंगा? क्या मुझे मुनिवर से भी अलग रहना पड़ेगा? लम्बे समय तक ये संकल्प मुझे सताते रहे। फिर अचानक आस्था का स्वर जागा। रात के चार बजे होंगे। मन में अकल्पित शक्ति उतर आयी। मन ही मन मैंने कहा—मैं बिलकुल ठीक हो जाऊंगा। मेरी आंखों की बीमारी ठीक हो जाएगी और मैं अपने लक्ष्य तक पहुंच पाऊंगा। दिन में मैंने सारी बात मुनिवर को बताई। उन्होंने उपचार की ओर अधिक ध्यान दिया। अनेक औषधियों का प्रयोग किया, पर लाभ नहीं हुआ। उदयपुर में दानों को मिश्री से घिसना शुरू किया। उससे कुछ लाभ हुआ और बीमारी की भयंकरता समाप्त हो गई। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे विद्या-गुरु ने मुझे अन्तश्चक्षु का ही दान नहीं दिया, चर्म चक्षुओं का भी दान दिया।

मुनि छत्रमलजी व्याख्यान की सामग्री का संकलन करते थे। मेरे मन में भी यह भावना जागी। मैंने भी उसके संकलन का निर्णय किया। मुनिवर को पता चला। उन्होंने मनाही कर दी। मुझे ठेस लगी। उस समय उसकी जरूरत नहीं थी, पर विद्यार्थियों में होड़ चलती थी। कोई एक विद्यार्थी साधु व्याख्यान की सामग्री संकलित करे तो दूसरा कैसे नहीं करे? मैंने फिर आग्रह किया। मुनिवर अप्रसन्न हो गए। मैं इस विषय में बहुत जागरुक रहता कि वे अप्रसन्न न हो। पर कभी-कभार वे अप्रसन्न हो जाते तो उन्हें प्रसन्न किए बिना मुझे चैन नहीं मिलता। एक बार सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं उन्हें वन्दना करने गया। मैंने विग्रम स्वर में कहा—'मुझसे कोई भूल हुई हो तो मुझे बताएं। मुझे क्षमा करें। आप

अप्रसन्न न रहे ।' वह नहीं बोले । मैं अपना हाथ उनके पैरों में टिकाए हुए वंदना की मुद्रा में बैठा रहा । फिर भी वे नहीं बोले । लगभग दो घंटे बीत गए । प्रहर रात आ गई । सोने का समय हो गया । वे पूज्य कालूगणीजी के पास चले गए । और मैं मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी के पास सोने के लिए चला गया ।

मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी मुनिवर के बड़े भाई थे । हमारी रहन-सहन की सभी व्यवस्था वे ही करते थे । हम दो व्यक्तियों के कठोर अनुशासन में चल रहे थे । मुनिश्री चम्पालालजी का अनुशासन भी बड़ा कठोर था । वे हम लोगो पर काफी कड़ा नियंत्रण रखते और थोड़ी-सी भूल होने पर बहुत अप्रसन्न हो जाते । उन्हें प्रसन्न करना भी कोई सरल काम नहीं था । गाय दूध देती है तो उसकी चोट भी सह ली जाती है । हमें निरंतर दूध मिलने का अनुभव हो रहा था इसलिए हम उनकी अप्रसन्नता भी सह लेते और उन्हें प्रसन्न करने में हमें अधिक प्रसन्नता का अनुभव होता । अनुशासन में रहने वाला व्यक्ति कितना पकता है और कैसे पकता है, इसका हमें अच्छा अनुभव है । और हमारे अनुभव से दूसरे विद्यार्थी भी काफी लाभान्वित हो सकते हैं । अनुशासन की सबसे पहली शर्त है—तादात्म्य । उसके बिना अनुशासन करने वाला और उसे सहने वाला—दोनों ही सफल नहीं हो सकते ।

अनुशासन को मैं बहुत व्यापक अर्थ में स्वीकार करता हूँ । वह केवल निषेधात्मक नहीं है । अवांछनीय आचरण और व्यवहार से रोकना ही अनुशासन नहीं है । वह उसका छोटा सा पक्ष है । अनुशासन का व्यापक स्वरूप है—विवेक-शक्ति का विकास और नियंत्रण-शक्ति का विकास । विवेक और नियंत्रण की शक्ति का विकास होने पर व्यक्ति का जीवन स्वयं शासित हो जाता है । फिर उसके लिए दूसरे का शासन जरूरी नहीं है । अनुशासन कुंठा पैदा करने की प्रक्रिया नहीं है । वह प्रक्रिया है आत्मानुशासन को जगाने की । हम कभी-कभार कुंठा पैदा करने वाले अनुशासन की सीमा में भी रहे, पर अधिकांशतः हम आत्मानुशासन जगाने वाले अनुशासन में ही पले । इसलिए अच्छाइयों को पकड़ने में हमारी अन्तश्चेतना सदा गतिशील रही । पूज्य कालूगणी का मुझ पर बहुत अनुग्रह था । वे मेरे हितों का बहुत ध्यान रखते थे । लाडलू की प्रतीति है । भयंकर सर्दियों का मौसम । हम लोग शौचार्थ जंगल में जाते थे । मैं प्रायः पूज्य गुरुदेव के साथ ही जाता था । एक दिन दूसरी दिशा में चला गया । पूज्य गुरुदेव ने स्थान पर आते ही पूछा—नत्थू कहां है ? संतो ने कहा—वह मुनि तुलसी के लिए

होमियोपैथी दवा लाने के लिए गया है। उन्होंने पूछा—सर्दी बहुत है। कंबल ओढ़कर गया या नहीं? संतो ने मेरी निश्रा के उपकरण देखे। कंबल वहीं पड़ा था। पूज्य गुरुदेव से निवेदन किया—कंबल यहीं पड़ा है। वह ओढ़कर नहीं गया है। पूज्य गुरुदेव ने दो साधुओं को निर्देश दिया—‘तुम कंबल ले जाओ और उसे कंबल ओढ़ा दो।’ इस घटना की मेरे किशोर-मन पर एक प्रतिक्रिया हुई। मन में अनुशासन का भाव जागा। पूज्य गुरुदेव मेरे हितों का इतना ध्यान रखते हैं तब उनका प्रत्येक आदेश-निर्देश हित की दृष्टि से ही है। एक बार दो कंबल आए। एक मुझे लेना था और एक मुनि बुद्धमल्लजी को। दोनो एक-जैसे थे। एक बिलकुल साफ था। एक पर कुछ धब्बे थे, मैंने कहा—यह साफ कंबल मैं लूंगा। मुनि बुद्धमल्लजी ने भी वैसा ही आग्रह किया। हम दोनो का आग्रह देख पूज्य गुरुदेव ने वह किसी को नहीं दिया। दोनो कंबल अपनी पछेवड़ी (चादर) से ढांक लिये। उनके केवल दो सिरे बाहर निकाले और हम दोनो से कहा—जो इच्छा हो वह एक सिरा पकड़ लो। हमने एक-एक सिरा पकड़ लिया। जो साफ-सुथरा था वह मुनि बुद्धमल्लजी के हिस्से में चला गया। फिर भी मैं अप्रसन्न नहीं हुआ। सहज ही मेरे मन पर एक छाप पड़ी कि समता का मूल्य प्रियता से भी ज्यादा है।

मेरी गति व्यवस्थित नहीं थी। मैं चलता तब पैर इधर-उधर पड़ते। दोपहर के समय जब एकान्त होता तब पूज्य गुरुदेव कहते—तुम चलो। मैं चलता तब उनका निर्देश मिलता—पैर ठीक ढंग से रखो। न जाने कितनी बार चलने का अभ्यास कराया। मैं मानता हूँ कि मुझे गतिमान बनाने का ही प्रयत्न था। बहुत छोटी-छोटी बातों से जीवन का निर्माण कैसे होता है, इसे केवल बड़ी बातों में विश्वास करने वाले नहीं समझ पाते। हम लोग स्थान से बाहर जाते हैं तब ‘पछेवड़ी’ के गांठ लगाकर जाते हैं। मैं प्रातःकाल पूज्य गुरुदेव के साथ बाहर जाने के लिए तैयार होकर वहां से चला जाता। पूज्य गुरुदेव कहते—गांठ ठीक से नहीं लगी। वह उसे अपने हाथों से खोलते और फिर अपने हाथों से ही गांठ लगाते। लंबे समय तक यह सिलसिला चलता रहा। इस छोटी-सी घटना ने क्या यह पाठ नहीं पढ़ाया कि मन की जटिल ग्रन्थियों को खोलना हम सीख जाएं और कोई गांठ पड़े तो भी वह इतनी उलझी हुई न हो, जिसे खोलना कठिन बन जाएं।

मालवा की यात्रा हो रही थी। सर्दी का मौसम था। हमारी संघीय व्यवस्था

के अनुसार सोने का स्थान विभाग से निश्चित होता है। हम दीक्षा पर्याय में बहुत छोटे थे। दीक्षा पर्याय में बड़े साधुओं को अच्छा स्थान मिल गया और हमें सोने के लिए खुला स्थान मिला, जिसके कई दरवाजे थे। किवाड़ बिलकुल नहीं थे। मुनिश्री चंपालालजी स्वामी को पता चला, तब वे आए और उन्होंने हम सबसे कहा—अपने-अपने सिरहाने में जो नया कपड़ा है, वह निकालो। हमने निकाल दिए। उन्होंने कपड़ों को तान कर एक तंबू सा खड़ा कर दिया। चारों ओर से बन्द एक कपड़े का कमरा बन गया। हमने सीखा—हर उपाय के लिए उपाय होता है। यदि उपाय की मनीषा जाग जाए तो उपायों को निरस्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

पूज्य कालूगणीजी की जन्मभूमि छापर में मर्यादा-महोत्सव का आयोजन हो रहा था। मुनिवर वहां नहीं थे। शारीरिक अस्वस्थता के कारण लाडनूं में ही रह गए थे। सुखलालजी स्वामी और मुनि अमोलकचंदजी लाडनूं से छापर आए। उन्होंने आचार्यवर से प्रार्थना की—मुझे वहां भेजा जाए। आचार्यवर ने उसे स्वीकार कर लिया। साध्वीप्रमुखा झमकूजी को इसका पता चला। मेरे रजोहरण का प्रतिलेखन वे करती थी। मध्याह्न के समय मैं उनके पास गया। उन्होंने कहा—आप लाडनूं जा रहे हैं? मैंने कहा—जा रहा हूं। वे बोली—फिर आपको गुरुदेव अपने पास नहीं रखेंगे, सदा के लिए अलग विहार करने वाले साधुओं के साथ भेज देंगे। मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। मैं पूज्य गुरुदेव के पास पहुंचा, साध्वीप्रमुखा ने जो बात कही वह बता दी। पूज्य गुरुदेव ने मृदु मुस्कान के साथ कहा—तुम तुलसी के पास लाडनूं चले जाओ। कोई चिंता मत करो। मैंने मुनि-द्वय के साथ लाडनूं के लिए विहार किया। बीच में हम लोग एक दिन सुजानगढ़ रुके। वहां नथमलजी स्वामी का आतिथ्य स्वीकार किया। दूसरे दिन-लाडनूं पहुंचे। मुनिवर ने तथा अन्य सभी साधुओं ने हमारी आगवानी की। अलग रहने में मुझे जो कठिनाई अनुभव हो रही थी, उसका समाधान हो गया। अध्ययन फिर से चालू हो गया। मुनिवर को भी पूज्य कालूगणी से अलग रहने के कारण एक रिक्तता अनुभव हो रही थी। उसे यत्किंचित् मात्रा में भरने का श्रेय मुझे उपलब्ध हुआ, यह मैं मानता हूं। एक दिन की घटना है। सभी साधु गोचरी के लिए गये हुए थे। मैं मुनिवर के पास बैठा था। उन्होंने मुझे अध्ययन के लिए प्रेरणा दी, जीवन-विकास के कुछ सूत्र बताये और फिर कहा—तुम भी मेरे जैसे बनोगे? मैंने कहा—“मुझे क्या पता। आप बनायेंगे तो बन जाऊंगा।” मुझे दूसरे

साधु बहुत भोला समझते थे। मैं भोला अवश्य था, पर वे जितना समझते थे उतना नहीं था। सरलता मुझे प्रिय थी। कपट, प्रपंच, छलना और प्रवचन से मुझे बहुत घृणा थी। मैं सबके प्रति निश्छल व्यवहार करना पसंद करता था। मैं अपने प्रति, अपने हितों के प्रति सतत जागरूक था। मैंने अपने लिए कुछ सफलता के सूत्र निश्चित किए थे। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा जो मेरे विद्यागुरु को अप्रिय लगे। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा जिससे मेरे विद्यागुरु को यह सोचना पड़े कि मैंने जिस व्यक्ति को तैयार किया वह मेरी धारणा के अनुरूप नहीं बन सका। मैं किसी भी व्यक्ति का अनिष्ट चिन्तन नहीं करूंगा। मेरी यह निश्चित धारणा हो गई थी—दूसरे का अनिष्ट चाहने वाला, उसका अनिष्ट कर पाता है या नहीं कर पाता, किन्तु अपना अनिष्ट निश्चित ही कर लेता है। इन सूत्रों ने मेरा जीवन-पथ सदा आलोकित किया। मुझे कभी भी दिग्भ्रान्त होने का अवसर नहीं मिला।

गंगापुर में पूज्य कालूगणीजी का स्वर्गवास हो गया। समूचे संघ को वह वज्राघात जैसा लगा। मुनि तुलसी अब आचार्य तुलसी हो गए। पहले वे हम से बहुत निकट थे। अब कुछ दूर-से लगने लगे। पहले केवल हमारे थे, अब वे सबके हो गए। ऐसा लगा, पहले जो करुणा की सघनता थी वह छितर गई। पहले उसके भागीदार हम कुछेक साधु ही थे, अब हजारों-हजारों व्यक्ति हमारे सहभागी हो गए। उनसे अलग आहार करना भी अच्छा नहीं लग रहा था, पर अब सह-भोज भी संभव नहीं था। अध्ययन की व्यवस्था भी कुछ समय के लिए गड़बड़ा गई। ये सारे संधिकाल के अनुभव हैं। जैसे-जैसे समय बीता, वैसे-वैसे स्थितियों का नवीकरण होता गया।

गंगापुर से विहार कर आचार्यवर बागौर पहुंचे। वहां मुझे एक नया अनुभव हुआ। आदेश की घोषणा की गई—पांच मिनट के भीतर सब साधु जहां गोचरी का विभाग होता है वहां चले जाएं, कोई अपने स्थान पर बैठा न रहे। हमारे संघ में आचार्य के आदेश का पालन बड़ी तत्परता के साथ होता है। सभी साधु अपने-अपने पात्र लेकर उस स्थल पर पहुंच गए। मैं भी पहुंच गया। जिस स्थान पर गोचरी का विभाग हो रहा था उसके पास ही एक केलू का छपरा था। मैं वहां जाकर बैठ गया। शिवराजजी स्वामी ने मुझे देखा और बोले—बैठने की मनाही है, फिर तुम कैसे बैठे? मैंने कहा—यह विभाग का स्थल है। यहां बैठने की मनाही नहीं है। अपने-अपने स्थान पर बैठने की मनाही थी। मैं वहां से यहां आ गया। यह विभाग का स्थल है। यहां कोई खड़ा रहे या बैठे, इससे आपको

क्या ? वे हमारे संघ से 'कोतवाल' कहलाते थे । वे अनुशासन की क्रियान्विति का पूरा ध्यान रखते थे । बड़े जागरूक व्यक्ति थे । मेरा तर्क बहुत साफ था । फिर भी उनके गले नहीं उतरा । वे आचार्यश्री के पास पहुंचे, सारी घटना आचार्यश्री के सामने रख दी । आचार्यश्री ने मुझे बुलाकर कहा—'तुम वहां क्यों बैठे' ? मैंने अपना तर्क फिर दोहराया । आचार्यश्री को मेरा तर्क मान्य नहीं हुआ । उन्होंने मुझे बहुत कड़ा उलाहना दिया । मैंने विनम्रभाव से उसे सुना और सहा । मैं कुछ भी नहीं बोला । मैं मन ही मन सोचता रहा—मेरा कोई प्रमाद नहीं हुआ । मैंने कोई गलती नहीं की । शिवराजजी स्वामी ने अपने आवेश के कारण मुझे फंसा दिया और आचार्यवर ने भी उनकी बात को मानकर मुझे उलाहना दे दिया । यह प्रतिक्रिया लम्बे समय तक मेरे मन पर होती रही । मैं काफी समय तक इस घटना को अपने मन से नहीं निकाल सका । यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी । पर मेरे लिए यह बड़ी बात इसलिए बन गई कि मेरी भावना पर दोहरी चोट पहुंची । मैं कल्पना नहीं करता था कि आचार्यश्री की इतनी प्रियता होते हुए भी अकारण ही उनसे इतना कड़ा उलाहना सुनना पड़ेगा । दूसरी बात, मेरे मन पर एक छाप थी कालूगणी के व्यवहार की । मैंने सुना था—पूज्य कालूगणी को आचार्यों से कभी उलाहना नहीं मिला । मेरे मन का भी संकल्प था कि मैं भी कभी आचार्यवर से उलाहना नहीं सुनूंगा । मेरा संकल्प टूटता-सा लगा, इससे मुझे बहुत आघात पहुंचा ।

मैं कोई प्रमाद न करूं, कभी उलाहना न सुनूं, किसी के प्रति कोई अनिष्ट चिन्तन न करूं, अध्ययन में किसी से पीछे न रहूं—इन छोटे-छोटे संकल्प-सूत्रों ने मेरी चेतना के जागरण में योग दिया, ऐसा मैं अनुभव करता हूं । जीवन-निर्माण में छोटी-छोटी बातें बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं । प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं मंत्रीमुनि श्री मगनलाल स्वामी के पास गया । उन्होंने सहजभाव में दो बोल कहे, जो मेरी अहंकार-मुक्ति की साधना में संबल बन गए । उन्होंने कहा—'विद्या का और गुरु-कृपा का अहंकार नहीं होना चाहिए । हम मुनि हैं । हम किस बात का अहंकार करें ! मांगना बहुत छोटा काम है । हम रोटी के लिए दूसरों के सामने हाथ पसारते हैं, फिर अहंकार किस बात का ? न जाने कितनी बार यह जीव बेर की गुठली बनकर पैरों से रौंदा जा चुका है । फिर अहंकार किस बात का ?' इन छोटे-छोटे बोलों ने मन की गहरी परतों को छू लिया । अहंकार मेरी मृदुता पर कभी आक्रमण नहीं कर सका ।

वि० सं० २००१ का चातुर्मासिक प्रवास मैंने सरदारशहर में किया ।

आचार्यश्री के पास रहकर मैं जो अध्ययन कर सकता था, वह वहां नहीं हुआ। चातुर्मास के पश्चात् मैं फिर आचार्यवर के पास पहुंचा और फिर अध्ययन का क्रम चालू हो गया। एक मुनि ने कहा—‘आपने इनको अलग क्यों भेजा?’ आचार्यश्री ने कहा—‘इनका स्वभाव संकोचशील बहुत है। संकोच को कम करने के लिए मैंने इन्हें अलग भेजा। व्याख्यान देना बहुत जरूरी है। यहां मेरे पास व्याख्यान देने की कला भी नहीं सीखी जाती। इसलिए भी अलग भेजना जरूरी था।’ मैं यह सारी बात एक तटस्थ श्रोता का भांति सुन रहा था। मैंने सोचा—मेरे आचार्य मेरे लिए जो भी प्रिय या अप्रिय करते हैं, वे किसी चिन्तन के साथ करते हैं, मेरे हितों को ध्यान में रखकर करते हैं। इसलिए आचार्यश्री जो भी करें उसमें तार्किक बुद्धि का प्रयोग अपेक्षित नहीं लगता। मैं दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र का विद्यार्थी था, फिर भी आचार्यश्री के आदेशों-निर्देशों को प्रायः बिना तर्क के स्वीकार करने में सफल रहा हूँ। मुझे आचार्यवर पर विश्वास रहा है और वे भी मुझ पर विश्वास करते रहे हैं। कलकत्ता में जापान की बमबारी हुई। तेरापंथी महासभा के पुस्तकालय की हजारों-हजारों पुस्तकें गंगाशहर में लायी गईं। आचार्यवर का वहां चातुर्मास हुआ। मुझे संस्कृत और प्राकृत की बहुत पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिला। मैं मानता हूँ, उस चातुर्मास में मेरे अध्ययन की नयी दिशाएं उद्घाटित हुईं। मैं सायंकाल प्रतिक्रमण के पश्चात् आचार्यवर की वन्दना करने गया। पास में ही मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी बैठे थे। वन्दना के अनन्तर उन्होंने पूछा—‘आजकल क्या कर रहा है?’ मैंने कहा—‘कर्म-ग्रन्थ पढ़ रहा हूँ। तत्त्वार्थसूत्र की टीका पढ़ रहा हूँ। और भी कुछ नाम गिनाए’। वे तत्काल आचार्यश्री की ओर मुड़े और बोले—‘महाराज ! यह इतने ग्रन्थ पढ़ रहा है। मूल धारणा में पक्का तो है न? कोई खतरा तो नहीं है?’ आचार्यवर ने कहा—‘कोई खतरा नहीं है। सब ठीक है।’ विश्वास विश्वास बढ़ता गया। गुरु जब इतना विश्वास करे तो शिष्य जी भरकर उस विश्वास की सुरक्षा का प्रयत्न करता है। मैंने इस सच्चाई को जीवन में अनेक बार साकार होते देखा है।

मेरे मुनि-जीवन का पांचवां दशक चल रहा है। और मेरे विद्यार्थी-जीवन का भी पांचवां दशक चल रहा है। इन पांच दशकों में आचार्यश्री तुलसी ने मुझे जितनी प्रेरणाएं दी, उतनी प्रेरणाएं एक गुरु ने अपने शिष्य को दीं या नहीं दीं, यह अनुसंधान का विषय है। शताब्दियों में ही कोई विरला गुरु होता है जो अपने शिष्य को इतनी प्रेरणा देता है। मैंने केवल तेरह वर्ष के मुनि-जीवन का एक विहंगावलोकन किया है। प्रेरणा के मुख्य स्रोतों का अभी स्पर्श भी नहीं हुआ

है। संस्कृत और प्राकृत जैसी प्राच्य भाषाओं का तलस्पर्शी अध्ययन, आशुकवित्त्व, दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, साम्यवाद आदि राजनीतिक दर्शनों का अध्ययन, पश्चिमी दर्शनों का अध्ययन, आचार्य भिक्षु और श्रीमज्जयाचार्य के साहित्य का अध्ययन, जैन आगमों का शोधपूर्ण संपादन, प्रवचन की जनभोग्य शैली, जैन परंपरा में ध्यान की विच्छिन्न श्रृंखला का अनुसंधान और उसका प्रयोगात्मक रूप, प्रेक्षा-ध्यान के शिविरो का संचालन आदि-आदि अनेक बिन्दु हैं जो समय-समय पर मिली हुई प्रेरणाओं से दीर्घ रेखाओं में बदले हैं। उन सबकी चर्चा कभी अपनी आत्मकथा में करना चाहूंगा। एक निबन्ध में उसकी चर्चा सम्भव नहीं है।

आचार्यश्री ने एक कुशल शिल्पी और एक कुशल कर्मी के रूप में एक प्रतिमा को गढ़ा और जिस प्रतिमा का कोई मूल्य नहीं था। प्रतिमा का इस प्रकार निर्माण किया कि उसे यह अनुभव भी नहीं होने दिया कि उसमें किसी विशिष्ट शक्ति का अवतरण या आरोपण किया जा रहा है। कोरा ज्ञान होता तो शून्य पूरा भरता नहीं। उसमें अहंकार को अपना आसन बिछाने का अवसर मिल जाता। ज्ञान के बाद ध्यान की प्रेरणा ने उस शून्य को भर दिया। यदि कोरा ज्ञान होता, ध्यान नहीं होता तो तेरापंथ के नेतृत्व को, सर्वोच्च पद को, उपलब्ध कर मन हर्ष से भर जाता। इस एकछत्र गरिमामय पद पर आचार्य द्वारा नियुक्ति होना एक महत्त्वपूर्ण अवसर है। इस अवसर पर अन्तःकरण में समत्व का भाव जागृत रहे, यह उस सृजन की ही विशेषता है, जिसमें ज्ञान और ध्यान के तत्त्व संतुलित रहे और उनकी फलश्रुति समता के रूप में प्रतिष्ठित रही। एक भाई ने कहा—युवाचार्य बनने के बाद भी शरीर का वजन नहीं बढ़ा, यह कैसे? कोई छोटा-मोटा पद प्राप्त होता है तो भी व्यक्ति शरीर से फूल जाता है, कुर्सी भर जाती है। इतना सर्वोच्च पद पा लेने पर भी परिवर्तन क्यों नहीं आया? मैंने स्मित के साथ कहा—आचार्यश्री ने मुझे पहले योगी बना दिया और बाद में आचार्य बनाया। इसलिए ऐसा नहीं हो सका। 'वपुः कृशत्वं'—ध्यान सिद्धि का पहला लक्षण है शरीर की कृशता। इसलिए मांसल होना शायद मेरी नियति में ही नहीं है। आदमी हर्ष मोटा होता है। पर मेरे आचार्य ने मुझे पहले ही समता में प्रतिष्ठित कर दिया, इसलिए विशिष्टता उपलब्ध होने पर हर्ष, की बात भी मेरी नियति में नहीं है। मेरे सृजन की नियति है समता। इसका विकास ही मेरी दृष्टि में मेरी सफलता और मेरे सृजन की सफलता है।

अतीत का अनावरण

वि० सं० २००० मेरे जीवन में नये उन्मेष का वर्ष है। चौबीसवें वर्ष में प्रवेश के साथ-साथ मुझे संस्कृत, प्राकृत और दर्शनशास्त्र के अनेक ग्रन्थों के अध्ययन का सहज अवसर मिला। उसी वर्ष मैंने हिन्दी में लिखना शुरू किया। मैं संस्कृत से एक साथ हिन्दी में आया, इसलिए उस समय की मेरी हिन्दी संस्कृतनिष्ठ ही रही, फिर भी हिन्दी में लिखना मुझे अच्छा लगा। कुछ मुनियों का आग्रह था कि मैं 'पचीस बोल' की हिन्दी में व्यख्या लिखूँ। मेरे मन में संकोच था। हिन्दी में मैंने कभी कुछ-लिखा नहीं था। जो कुछ लिखना होता, वह सारा संस्कृत में ही लिखता। कभी-कभी प्राकृत में भी लिखता। ये दोनों पुरानी भाषाएं हैं। लोग इन्हें मृतभाषा कहते हैं। अतीत जीवित कैसे होगा? वह मृत ही होगा। जीवित केवल वर्तमान होता है। इसलिए जीवित है। मैं भाषा के साथ-साथ दर्शन का विद्यार्थी रहा हूँ। वह मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। उसे मैंने अनेकान्त के आलोक में पढ़ा है। अनेकान्त का विद्यार्थी किसी को सर्वथा जीवित अथवा सर्वथा मृत कैसे मान सकता है? मैंने वर्तमान के साथ संपर्क स्थापित किया, पर अतीत के साथ स्थापित संपर्क को कभी कम नहीं किया। दोनों में संतुलन बना रहा। मैंने हिन्दी में 'पचीस बोल' की व्याख्या लिखी और वह ग्रन्थ 'जीव-अजीव' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह मेरी पहली रचना थी हिन्दी के क्षेत्र में और दर्शन के क्षेत्र में भी।

प्रो० हीरालाल रसिकदास कापड़िया अहिंसा के बारे में एक ग्रन्थ का संकलन कर रहे थे। उन्होंने आचार्यश्री के पास एक प्रस्ताव भेजा—आचार्य भिक्षु के अहिंसा सम्बन्धी विचारों को उस ग्रन्थ में मैं देना चाहता हूँ। मुझे हिन्दी में उनके विचारों का एक संकलन उपलब्ध कराएं। आचार्यश्री उस समय चाड़वास (चूरू, राजस्थान) में विराज रहे थे। उन्होंने मुझे बुलाकर पूछा।—'क्या तुम हिन्दी में निबन्ध लिख सकते हो?' मैंने कहा—'लिख सकता हूँ।' आचार्यवर ने कहा—'अहिंसा के संबंध में आचार्य भिक्षु के विचारों पर एक निबन्ध लिखो।' मैंने आचार्यवर के आदेश को शिरोधार्य किया और कार्य प्रारम्भ कर दिया। कार्य

की तात्कालिक क्रियान्वित में मेरा विश्वास रहा है, इसलिए किसी भी कार्य को अधर में लटकाए रखना मेरी प्रकृति में नहीं था। निबन्ध लिखने का कार्य शीघ्र सम्पन्न हो गया। यह 'अहिंसा' शीर्षक से एक लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ। अहिंसा के सम्बन्ध में आचार्य भिक्षु के विचार बहुत मौलिक हैं। शुद्ध साध्य की सिद्धि के लिए शुद्ध साधन होना जरूरी है। इस सिद्धान्त पर आचार्य भिक्षु ने बहुत बल दिया। मेरा अभिमत है कि इस सिद्धान्त पर बल देने वाले और इस पर तार्किक पद्धति से विश्लेषण करने वाले भारतीय मनीषियों में आचार्य भिक्षु का स्थान अग्रणी है। महात्मा गाँधी भी इस क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं। 'अहिंसा' पुस्तिका उनके पास पहुँची। उन्होंने उस पर कई टिप्पणियाँ भी लिखीं और आचार्य भिक्षु के बारे में उनके मन में एक जिज्ञासा भी जागी।

इन दिनों हमारे धर्म-संघ को प्रबुद्ध लोग रूढ़िवादी मानते थे। दूसरे सम्प्रदाय के लोग कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न उपस्थित कर तेरापंथ को व्यवहार को विघटित करने वाला बतलाते थे। इस स्थिति में हम एक वैचारिक अवरोध का अनुभव कर रहे थे। आचार्यश्री के मन में उस अवरोध को मिटाने की तड़प जागी। उन्होंने आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों को दर्शन की भाषा और शैली में प्रस्तुत करना शुरू किया। मुझे प्रारम्भ से ही यह सौभाग्य मिला है कि मैं उनकी हर कृति में उनके साथ रहा। जयाचार्य को आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला तो मुझे आचार्य तुलसी का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला और साथ-साथ आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य भी मुझे उपलब्ध हुआ। आचार्यश्री ने 'जैन सिद्धान्त दीपिका' नामक एक संस्कृत ग्रन्थ लिखा। उसके एक अध्याय में आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। दर्शन के स्तर पर सूत्र की शैली में आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने का यह पहला प्रयत्न था। एक दिन डा० सतकोडि मुखर्जी को मैंने यह अध्याय सुनाया। उसे सुनकर डॉ० मुखर्जी ने कहा—“यह बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इतने दिन प्रकाश में क्यों नहीं आया? खेद है, आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जन्में। यदि वे जर्मनी में जन्मे होते तो उनका महत्त्व इम्युअल कान्ट से कम नहीं होता।” डॉ० मुखर्जी के विचारों से मुझे एक सन्तोष का अनुभव हुआ। आचार्य भिक्षु के जिस दृष्टिकोण को आचार्यश्री तुलसी दार्शनिक शैली में प्रस्तुत कर रहे हैं और मैं जिसका भाष्य कर रहा हूँ, वह दृष्टिकोण सारयुक्त और वर्तमान की समस्या को समाधान देने वाला है। प्रारम्भ से ही मेरी यह दृष्टि रही कि जो दर्शन या धर्म वर्तमान समस्या का समाधान

नहीं देता, वह उपयोगी नहीं हो सकता। और जो उपयोगी नहीं हो सकता वह चिरजीवी नहीं हो सकता। बासी चीज की उपयोगिता कम होती जाती है और एक दिन वह फेंक दी जाती है।

आचार्य भिक्षु ने एक सूत्र दिया था—‘बड़े जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों को मारना अहिंसा नहीं है। छोटे जीवों को मारकर बड़े जीवों का पोषण करना अहिंसा नहीं है।’ इस सूत्र ने मुझे बहुत आन्दोलित किया। मैंने मार्क्स और लेनिन के साहित्य को देखा और सामाजिक शोषण और असमर्थ लोगों के प्रति होने वाली क्रूरता के प्रति एक विशेष संवेदना जाग उठी। दान के नाम पर चलने वाले छद्म के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित हुआ। मैंने एक लघु पुस्तिका लिखी। उसका शीर्षक था—‘उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार।’ इस पुस्तिका पर कुछ जैन पत्रों ने टिप्पणी की—‘मुनि नथमलजी साम्यवादी हो गए हैं।’ राजनैतिक प्रणाली के अर्थ में मैं साम्यवादी नहीं बना, पर मार्क्स की विचारधारा के प्रति मेरा झुकाव निश्चित ही रहा। अच्छे साध्य के लिए अशुद्ध साधन को काम में लाया जा सकता है—इस साम्यवादी सिद्धान्त के साथ मैं कभी सहमत नहीं हो सका। आचार्य भिक्षु के ‘शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन’ की अमिट छाप मेरे मन पर अंकित थी। उन दिनों गांधीजी के विचार बहुत चर्चित हो रहे थे। वे भी शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन के सिद्धान्त पर बल दे रहे थे। दार्शनिक सन्दर्भ में आचार्य भिक्षु ने और राजनीतिक प्रणालियों के सन्दर्भ में महात्मा गाँधी ने इस सिद्धान्त पर जितना बल दिया, उतना शायद कम विचारकों ने दिया। इसीलिए हरिभाऊ उपाध्याय कहा करते थे कि अध्यात्म और राजनीति की पृष्ठभूमि को अलग रखने पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गाँधी के अहिंसा सम्बन्धी विचार में मुझे कोई अन्तर नहीं लगता। आचार्य भिक्षु को पढ़ने के पश्चात् मैंने महात्मा गाँधी को पढ़ा। अहिंसा के विषय में दोनों के विचारों में अद्भुत समानता पायी। अहिंसा मेरा प्रिय विषय बन गया और वर्षों तक मैं इसी विषय पर लिखता रहा और जीवन में प्रयोग भी करता रहा।

आचार्यश्री तुलसी का चातुर्मासिक प्रवास (वि०सं० २०११) बम्बई में हुआ। परमानन्द कापड़िया ने तेरापंथ की अहिंसा विषयक दृष्टि पर एक समीक्षा लिखी। उसमें छिछली आलोचना नहीं थी। आलोचना का स्तर अच्छा था। इससे पूर्व तेरापंथ के अहिंसक विषयक सिद्धान्त की इस स्तर की आलोचना नहीं निकली थी। लेख गुजराती भाषा में था। उसका शीर्षक था—‘अहिंसा की अधूरी समझ’।

आचार्यश्री तुलसी ने वह लेख पढ़ा और मुझे बुलाकर कहा—‘अब तक हमने आलोचना का प्रत्युत्तर नहीं दिया। पहली बार यह स्तर की आलोचना निकली है, जिसमें गाली-गलौज नहीं किन्तु एक चिन्तन है। अब हमें इसका प्रत्युत्तर देना चाहिए। तुम एक लेख लिखो।’ मैंने उस पर ‘अहिंसा की सही समझ’ शीर्षक एक लेख लिखा। श्रीचन्दजी रामपुरिया ने कापड़िया का और मेरा—दोनों लेख ‘जैन भारती’ पत्र में एक साथ छापे। कापड़िया ने ‘प्रबुद्ध जीवन’ में लिखा—‘मेरे लेख में कहीं-कहीं व्यंग्य भी है, कटूक्तियाँ भी हैं, किन्तु मुनिश्री नथमल जी ने जो लेख लिखा है, उसमें केवल समीक्षा है, न कोई व्यंग्य और न कोई कटूक्ति।’ इससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। यदि मेरे मन में अहिंसा के बीज अंकुरित नहीं होते तो मैं व्यंग्य और कटूक्ति से शायद नहीं बच पाता।

मैं जैन मुनि बना। जैन दर्शन मेरे अध्ययन का विषय बना। फिर भी इसी स्वीकृति को मैं आवश्यक मानता हूँ कि गाँधी साहित्य से मुझे जैन धर्म को आधुनिक सन्दर्भ में पढ़ने की प्रेरणा मिली। मैंने एक पुस्तक लिखी। उसका नाम था—‘आंखें खोलो।’ उसके पांच अध्याय थे। उसमें एक अध्याय था—जातिवाद। आचार्यश्री तुलसी ने उसे देखकर कहा—‘यह पुस्तक बाहर जाएगी तो समाज में इससे बहुत चर्चा होगी। अभी इसे रहने दो।’ फिर दो क्षण के चिन्तन के बाद कहा—‘यह वास्तविकता है। जैन धर्म में जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर चर्चा से क्यों डरना चाहिए?’ पुस्तक सामने आ गई। कुछ ऊहापोह हुआ। साथ-साथ यथार्थ को प्रस्तुत करने का मुझे संतोष भी मिला।

गाँधी साहित्य के माध्यम से मैंने रस्किन और टॉलस्टाय को पढ़ा तो मुझे और अधिक व्यापक सन्दर्भ में चिन्तन करने का अवसर मिला। आचार्य भिक्षु ने सम्प्रदायातीत धर्म की नींव को बहुत मजबूत किया था। उन्होंने इस पर बहुत बल दिया कि धर्म मुख्य है, सम्प्रदाय गौण। यही सूत्र अणुव्रत के प्रवर्तन का आधार बना। आचार्यश्री ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया, तब उसकी समीक्षा इन स्वरो में हुई—‘आचार्यश्री जैन और अजैन—सभी को एक पंक्ति में ला रहे हैं।’ यदि आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण का सुदृढ़ आधार उपलब्ध नहीं होता तो काफी समस्याएं सामने आतीं। पर उस उदार दृष्टि ने सामने आने वाली हर समस्या को चिरजीवी नहीं बनने दिया। अणुव्रत आन्दोलन को दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का अवसर मिला। उससे मैं बहुत लाभान्वित हुआ। अतीत के चिन्तन को वर्तमान की समस्याओं के सन्दर्भ में देखने की एक दृष्टि मिली और

कुछ मौलिक विचार स्थापित हुए। धर्म के विषय में यह प्रसिद्ध धारणा है— धर्म करो, परलोक सुधर जाएगा। धार्मिकों को वर्तमान की कोई चिन्ता नहीं, केवल परलोक को सुधारने की चिन्ता है। धार्मिक व्यक्ति उपासना में विश्वास करता है, चरित्र में विश्वास कम करता है। नैतिकता का आचरण आवश्यक नहीं माना जाता। नैतिकताविहीन धर्म भी चलता है। अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से बहुत सारे प्रबुद्ध विचारक व्यक्ति सम्पर्क में आए और पारस्परिक आदान-प्रदान में कालतीत और सामयिक—दोनों प्रकार की सचाइयों को समझने का अवसर मिला। अणुव्रत के मंच पर सभी धर्मों और विचारधाराओं के लोग आने लगे और सभी को सुनने का अवसर मिलता गया। उससे समन्वय की दृष्टि को बहुत बड़ा बल मिला। मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा। जैन दर्शन को पढ़ा। साथ-साथ अन्य दर्शन भी पढ़े। अनेकान्त को पढ़ने के कारण अन्य दर्शनों के प्रति अन्यत्व का भान नहीं रहा। सत्य सत्य है, फिर उसे किसी भी दर्शन ने अभिव्यक्त किया हो। यही दृष्टि निष्पन्न हुई। अब मेरे सामने दर्शन दर्शन है, सत्य सत्य है, और सब भेद गौण हैं।

एक बार मुझे प्रतिश्याय हुआ और वह बिगड़ गया। एलोपैथी और आयुर्वेदिक इलाज कराए पर कोई लाभ नहीं हुआ। स्थिति चिन्तनीय बन गई। फिर प्राकृतिक चिकित्सा का योग मिला। मैं स्वस्थ हो गया। एक प्रेरणा जागी। लूई पूने को पढ़ा, और भी प्राकृतिक चिकित्सा की बीसों पुस्तकें पढ़ीं। वहीं से मेरे योग जीवन का प्रारंभ हुआ। आसन और प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान की रुचि भी जागृत हुई। मैंने ध्वनि चिकित्सा का भी प्रयोग किया। उदात्त स्वर में बीज-मंत्रों की ध्वनि करने पर मैं कुछ हास्यास्पद भी बनता रहा, फिर भी कोई अन्तःप्रेरणा काम कर रही थी। मैं उस प्रयत्न को छोड़ नहीं सका। आचार्यश्री की मुझ पर अनन्त करुणा रही। मैं जो काम करता, उसमें उनका अनुमोदन और प्रोत्साहन मिल जाता। आचार्यश्री ने स्वयं प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग किया। आसन, प्राणायाम और ध्यान के प्रयोगों का ही उन्होंने सर्वात्मना समर्थन किया। धीरे-धीरे उन सबकी जड़ें हमारे संघ में गहरी होती चली गईं।

मैं इसे निसर्ग ही मानता हूँ कि मेरे मन में क्रूरता की अपेक्षा करुणा अधिक प्रवाहित है। कोई भी व्यक्ति अपने में क्रूरता न होने का दावा नहीं कर सकता। करुणा और क्रूरता—दोनों धाराएं हर व्यक्ति में प्रवाहित होती रहती हैं—कोई बड़ी और कोई छोटी। असमर्थ वर्ग के प्रति समर्थ वर्ग के अतिक्रमणों की चर्चा

जब-जब सुनता हूँ, तब-तब मन करुणा से भर जाता है। हमारी दुनिया के इतिहास में एक बहुत बड़ा भाग अन्याय के इतिहास का है, यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। रोटी, वस्त्र आदि पदार्थ सम्बन्धी कठिनाइयों को हल करने में भी मनुष्य सफल नहीं हो रहा है, तब अन्याय की कठिनाइयों को हल करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। क्या यह सरल हो सकता है? यह प्रश्न आज भी मेरे लिए प्रश्न ही बना हुआ है। साहित्यिक रुचि प्रारम्भ से थी। संस्कृत में कविताएं, कहानियां लिखना चलता ही था। फिर हिन्दी में कविताएं लिखनी शुरू कीं। निबन्ध भी लिखे। तब हिन्दी जगत् के साहित्यकारों से सम्पर्क बढ़ने लगा। जैनेन्द्रकुमार, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियारामशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर', कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदि साहित्यकारों से सम्पर्क हुआ। केवल सम्पर्क ही नहीं हुआ, आत्मीय भाव भी बना। फिर भी मन में एक असंतोष उभरता रहता था। वह बार-बार अन्तःकरण को कचोटता रहता था। क्या विचार ही अंतिम यात्रा है? क्या साहित्य-साधना ही अंतिम यात्रा है? क्या इससे आगे और कुछ नहीं है? आधुनिक युग का व्यक्ति होने के लिए आधुनिक ढंग से सोचना और आधुनिक भाव-भाषा और शैली में लिखना पर्याप्त है। पर आधुनिकता पूर्ण सत्य तो नहीं है। वह एक सामयिक सत्य है। पूर्ण सत्य त्रैकालिक होता है, केवल सामयिक नहीं होता। एक बार हम लोग प्रभुदयाल डाबड़ीवाला के घर पर ठहरे हुए थे। सूर्यास्त होने को था। डॉ० राममनोहर लोहिया वहां आए। कुछ समय हम लोग बात करते रहे। सूर्यास्त हो गया। डॉ० लोहिया ने उठते हुए कहा—चलें, हम भोजन करें। मैंने कहा—सूर्यास्त हो गया। अब भोजन नहीं कर सकते। वे बोले—'आप आधुनिक मुनि हैं, फिर यह कैसा प्रतिबन्ध?' मैंने इसका प्रतिवाद किया। मैं आधुनिकता में विश्वास नहीं करता, शाश्वत में विश्वास आधुनिकता में होगा ही, पर केवल आधुनिकता में नहीं होगा। मैं मुनित्व को प्रत्यक्ष ज्ञान की साधना मानता हूँ। वह त्रैकालिक के बोध से ही संभव हो सकती है। केवल आधुनिकता हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती। आचार्यश्री तुलसी के अत्यन्त निकट साहचर्य में मैं रहा। राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ता, साहित्यकार, पत्रकार आदि सभी प्रकार के लोगों से विचार-विनियम करने का अवसर मिला। धर्म में अति श्रद्धा रखने वाले और धर्म को अस्वीकार करने वाले, दोनों प्रकार के लोगों से सम्पर्क होता रहा, पर मैंने उनमें से बहुत लोगों को तनाव की मनःस्थिति में पाया। मुझे लगा, तनाव वर्तमान

की सबसे बड़ी समस्या है। जो गलत निर्णय होते हैं, वे सब तनाव की मनःस्थिति में होता हैं, इसलिए वर्तमान में मानव जाति को तनाव-मुक्ति का मार्ग बतलाना उसकी सबसे बड़ी सेवा है। मैंने इसे अपना जीवन-व्रत बनाया। मुनि अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए जीवन की यात्रा शुरू करता है, किन्तु अपनी समस्या केवल अपनी ही नहीं होती, वे दूसरों की भी होती हैं। दूसरों की समस्या केवल दूसरों की ही नहीं होती, वे अपनी भी होती हैं। अपने और दूसरों के बीच में कोई ऐसा लोहावरण नहीं है, जिससे एक की समस्या दूसरे में संक्रान्त न हो। इसलिए समस्या के समाधान का मार्ग सबके लिए सुलभ होता है, इसे मैं श्रेय मानता हूँ। मेरी दृष्टि में यह जीवन का सबसे बड़ा सृजनात्मक प्रश्न है। शायद रोटी की उपलब्धि से भी इसका अधिक मूल्य है।

अहिंसा सार्वभौम की कल्पना

अहिंसा की शक्ति से हम सब परिचित नहीं हैं। उसकी उपयोगिता के कुछ पहलू अस्पष्ट हैं, इसलिए हम उसे नकार रहे हैं। उसकी सृजनात्मक शक्ति के प्रति हमारी आस्था गहरी नहीं है।

प्रत्येक शक्ति के विकास के लिए त्रिसूत्री कार्यक्रम आवश्यक होता है— शोध, प्रयोग और प्रशिक्षण। वैज्ञानिक विकास के साथ यही त्रिसूत्री कार्यक्रम जुड़ा हुआ है।

हम अपेक्षा करते हैं अहिंसा के क्षेत्र में बलिदानी कार्यकर्ता मिलें। इसकी पूर्ति कैसे संभव हो? जिसके नये-नये आयाम नहीं खोजे जाते, वह वस्तु पुरानी पड़ जाती है। पुरानी के प्रति कोई आकर्षण नहीं हो सकता। किसी भी वस्तु की सच्चाई को प्रमाणित करने की कसौटी बनता है प्रयोग।

अहिंसा की व्याख्या ज्यादा हो रही है। उसके प्रयोग नहीं हो रहे हैं। इसलिए अहिंसा के उपदेश जनता को आकर्षित नहीं कर रहे हैं।

लोग सोचते हैं—हिंसा में शक्ति है, आकर्षण है। हजारों-हजारों लोग हिंसा की रणभूमि में प्राण-विसर्जन कर देते हैं, पर अहिंसा की रणभूमि में प्राणार्पण करने वाले इने-गिने लोग भी दुर्लभ हैं। इस अंकन में कोई अतिरंजन नहीं प्रतीत हो रहा है। पर इस स्थिति के निर्माण में प्रशिक्षण के अभाव की भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हिंसक शास्त्रास्त्रों पर शोध, प्रयोग और प्रशिक्षण के पीछे हजारों-हजारों वैज्ञानिक और प्रशिक्षक लगे हुए हैं। प्रतिदिन लाखों-लाखों पुलिस के जवानों और सेना के सैनिकों का अभ्यास चलता रहता है। किन्तु अहिंसा के प्रशिक्षण की कहीं कोई व्यवस्था नहीं है और न कहीं उसके प्रति कोई आकर्षण उत्पन्न करने की योजना है। ऐसी स्थिति में अहिंसा के विकास की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। अहिंसक समाज की रचना मात्र एक स्वप्न बनी हुई है। उसे साकार करने के लिए अहिंसा सार्वभौम एक परिकल्पना है, एक साधन है, एक उपाय है।

हिंसा की बाढ़ को रोकने का विकल्प है अहिंसा। अहिंसा के विकास का

साधन है उसका प्रशिक्षण । अहिंसा सार्वभौम माध्यम बनेगा, उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का और प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं को अहिंसा की रणभूमि में व्याप्त करने का ।

शस्त्रसज्जित सैनिक मारने की बात सोचता है । वह मरने की बात नहीं सोचता । वह मर सकता है, पर संकल्प दूसरों को मारने का ही रखता है ।

अहिंसा का प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता मरने की बात सोच सकता है, पर दूसरों को मारने की बात कभी नहीं सोच सकता । यह अभय के विकास की प्रक्रिया सरल नहीं है, फिर भी प्रयत्न के द्वारा उसे सरल और संभव बनाया जा सकता है ।

अहिंसक समाज-संरचना कैसे होगी ?

अहिंसक समाज और हिंसक समाज, ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं। कोई भी ऐसा नहीं हो सकता, जो केवल हिंसा या अहिंसा के आधार पर चल सके। जीवन-निर्वाह के लिए हिंसा करनी पड़ती है। अपनी, अपने व्यक्तियों और वस्तुओं की सुरक्षा के लिए हिंसा की बाध्यता आती है। इस स्थिति में विशुद्ध अहिंसक समाज की कल्पना कैसे की जा सकती है? समाज की रचना अहिंसा के आधार पर हुई है। यदि मनुष्य हिंसक जानवरों की भांति एक-दूसरे को खाने दौड़ते तो समाज का निर्माण ही न होता। एक-दूसरे के हितों में बाधा न डालने का समझौता सामाजिक जीवन का सुदृढ़ स्तम्भ है। अतः विशुद्ध हिंसक समाज की भी कल्पना नहीं की जा सकती। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—समाज हिंसा और अहिंसा दोनों के योग से चलता है। कोरी अहिंसा के बल पर वह चल नहीं पाता और कोरी हिंसा के बल पर वह टिक नहीं पाता। इस दुनिया में वही समाज अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकता है, जो शक्तिशाली है। शक्ति के स्रोत तीन हैं—अर्थ, सत्ता और धर्म। अर्थ और सत्ता ये दोनों हिंसा के आधार पर चलते हैं और ये जीवन की प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। धर्म का आधार है—अहिंसा। वह जीवन को उच्चता प्रदान करती है। समाज-रचना के मूल में अर्थ और धर्म नहीं लगता। उसका प्रथम आकर्षण अर्थ के प्रति, दूसरा सत्ता के प्रति और तीसरा धर्म के प्रति है। इसलिए अर्थ और सत्ता के पास जितना शक्तिसंचय है, उतना धर्म के पास नहीं है। इस परिस्थिति में अहिंसक समाज की रचना का प्रश्न बहुत उलझने उत्पन्न कर देता है।

हिंसक समाज और अहिंसक समाज

इस दोनों को परिभाषा में बांधना, इनके बीच भेदरेखा खींचना सरल कार्य नहीं है, फिर भी व्यवहार-संचालन के लिए ऐसा करना ही होगा। जिस समाज में अर्थ और काम की प्रधानता और आचार धर्म की गौणता या अवहेलना होती है, वह हिंसक समाज कहलाता है। जिस समाज में अर्थ, काम और धर्म—तीनों की संतुलित उपासना होती है, वह अहिंसक समाज कहलाता है। हिंसक समाज

में अर्थ और सत्ता अहिंसा पर आवरण डाल देते हैं। अहिंसक समाज में अर्थ और सत्ता अहिंसा से प्रभावित होते हैं। भारतीय समाजशास्त्रियों ने पुरुषार्थ चतुष्टयी का प्रतिपादन किया था, जैसे अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। अर्थ समाज के भौतिक विकास का प्रमुख साधन है। काम उसकी प्रेरणा है। अर्थ और काम का एक युगल है। धर्म और मोक्ष का एक युगल है। प्रथम युगल हमारी भौतिक कक्षा का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा हमारी आध्यात्मिक कक्षा का। दोनों युगलों का अपना-अपना स्थान और महत्व है।

सोमदेव सूरी ने एक प्रश्न उपस्थित किया कि पुरुषार्थ चतुष्टयी में से किस पुरुषार्थ को अधिक महत्व देना चाहिए? इस प्रश्न का मूल्य आज भी कम नहीं हुआ है। उन्होंने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया वह आज मूल्यवान है। उन्होंने कहा—इनका संतुलित सेवन करना चाहिए। किसी एक का अतिसेवन करने से वह स्वयं की हानि करता है और दूसरों को पीड़ा पहुंचाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि अर्थ की अति का तात्पर्य है—काम और धर्म की क्षति। काम की अति का तात्पर्य है—अर्थ और धर्म की क्षति। धर्म की अति का तात्पर्य है—अर्थ और काम की क्षति। समाज को इन सबकी अपेक्षा है। इसलिए सामाजिक भूमिका में किसी एक को सर्वोच्च आसन नहीं दिया जा सकता। ऐसा अनुभव हो रहा है कि वर्तमान समाज ने अर्थ को अतिरिक्त मूल्य दिया है। महामात्य कौटिल्य का प्रसिद्ध सूत्र है—‘अर्थ एव प्रधानमिति कौटिल्यः।’ कौटिल्य अर्थ को ही प्रधान मानता है। इस अर्थ की प्रधानता से आज का समाज हिंसा के चक्रव्यूह में फंस गया है।

हिंसक समाज में ये तत्त्व फलते-फूलते हैं—(१) अर्थ और सत्ता का केन्द्रीकरण, (२) स्वार्थ का उन्मुक्त प्रयोग, (३) गलत मूल्यों की स्थापना, (४) श्रम का अवमूल्यन, (५) अनैतिकता का उत्कर्ष।

अहिंसक समाज में इन तत्त्वों को विकसित होने का अवसर मिलता है—(१) अर्थार्जन के साधनों की शुद्धि, (२) सत्ता का विकेन्द्रीकरण, (३) मूल्योंकी यथार्थता, (४) श्रम का उचित मूल्यांकन, (५) नैतिकता का विकास, (६) कर्तव्य की प्रेरणा, (७) स्वार्थ का विसर्जन या स्वार्थ-संतुलन।

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज—ये दो सापेक्ष इकाइयां हैं। व्यक्ति समाज का घटक और समाज व्यक्ति के हितों का संरक्षक है। व्यक्ति-विहीन समाज अस्तित्व में

नहीं आता और समाज-विहीन व्यक्ति अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख पाता। समुद्र जलबिंदुओं की संहति के सिवाय और कुछ नहीं है, पर उससे बिछुड़े हुए जलबिंदु को भूमि सुखा देती है। व्यक्ति का जिस दिन समाजीकरण हुआ, उसी दिन उसने विकास की दहलीज पर पैर रख दिए, वह प्रस्तर-युग से आज अणु-युग तक पहुँच गया है। व्यक्ति और समाज दोनों परिवर्तनशील सत्ताएं हैं। संस्कार सिद्धान्त और परिस्थिति के आधार पर बदलते रहते हैं। सिद्धान्त और परिस्थिति समाजीकृत होते हैं। इसलिए इनका प्रभाव व्यापक होता है। संस्कार व्यक्तिगत होते हैं। इसलिए वे व्यक्ति को ही प्रभावित करते हैं। व्यक्ति के जीवन पर संस्कार, सिद्धान्त और परिस्थिति तीनों प्रभाव डालते हैं। समाज को प्रभावित करने वाले दो तत्व हैं—सिद्धान्त और परिस्थिति।

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि परिस्थिति के परिवर्तन से समाज परिवर्तित होता है और समाज के परिवर्तन से व्यक्ति परिवर्तित होता है। व्यक्ति और समाज के बाह्य व्यवहार के परिवर्तन में यह बात घटित हो सकती है, किन्तु व्यक्ति व्यक्ति के आन्तरिक परिवर्तन में यह नहीं होती। साम्यवादी देशों में एक विशेष, सिद्धान्त और परिस्थिति का निर्माण हुआ है। उनके अनुसार वहां अर्थ पर होने वाला व्यक्तिगत स्वामित्व प्रतिबद्ध है। क्या इस प्रतिबद्धता को साम्यवादी देशों की जनता ने हृदय से मान्यता दी है? क्या उनके व्यक्तिगत स्वामित्व के संस्कार बदल गए हैं? क्या वहां आर्थिक घोटाले नहीं होते? क्या कोई साम्यवादी देश यह दावा कर सकता है कि उसकी जनता में अनैतिकता या भ्रष्टाचार सर्वथा नहीं है? यदि ऐसा हो तो मानना चाहिए कि साम्यवाद मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तन में सफल हुआ है। यदि ऐसा नहीं है और समय-समय पर प्राप्त संवादों से यह ज्ञात होता है कि ऐसा नहीं है, तब मानना चाहिए कि साम्यवाद ने दंडशक्ति को प्रखर बनाकर मनुष्य की प्रवृत्ति को बाध्य कर रखा है, किन्तु उसे बदलने में सफल नहीं हुआ है।

मनुष्य की प्रकृति को बदलने की क्षमता यदि किसी में है तो वह अहिंसा में ही है, अन्य किसी व्यक्ति में नहीं है। अहिंसा व्यक्ति की उन्मुक्त स्वतंत्रता है। जो व्यक्ति उसको हृदय की पूर्ण स्वतंत्रता से स्वीकार करता है वह परिस्थिति का सामना कर लेता है, किन्तु अनैतिक आचरण नहीं करता या कर ही नहीं सकता। इसका हेतु है करुणा का विकास, आत्मौपम्य की भावना का विकास। जिसके अन्तःकरण में करुणा प्रवाहित नहीं होती, वह सही अर्थ में साम्यवादी या

समाजवादी हो सकता है, यह समझने में मुझे कठिनाई है। और यह भी सच है कि राजनीतिक साम्यवाद की मर्यादा में मानवीय करुणा को वह स्थान नहीं मिल सकता, जो सत्ता-संग्रह को मिलता है। पूंजीवादी समाज अर्थशक्ति से उत्पन्न क्रूरता से पीड़ित है तो साम्यवादी समाज सत्ताशक्ति से उत्पन्न क्रूरता से पीड़ित है। मानव के प्रति करुणा को प्राथमिकता कहीं भी प्राप्त नहीं है। वह केवल अहिंसक समाज में ही हो सकती है। अहिंसक समाज में अर्थ और सत्ता का मूल्य सर्वोपरि नहीं होगा। उसमें सर्वोपरि मूल्य होगा मानवता का।

शासनमुक्त या शासनयुक्त ?

अहिंसक समाज शासनमुक्त होगा या शासनयुक्त ? यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता है। मेरे सामने जब यह प्रश्न आता है तब दृष्टि एक शास्त्रीय वर्णन की ओर चली जाती है। उसमें निरूपित है कि इसी विश्व में एक कल्पातीत नाम का लोक है। वहां दिव्य पुरुष रहते हैं। वे ऋद्धि और ऐश्वर्य के समान हैं, आयु और बल की दृष्टि से समान हैं। उनमें न कोई सेवक है और न कोई स्वामी। वे सब 'अहमिन्द्र' हैं। उनका समाज सोलह आना साम्यवादी और सोलह आना शासनमुक्त है। इस वर्णन को आप कल्पना मानें या यथार्थ, यह अपनी इच्छा पर निर्भर है। यदि कल्पना भी हो तो इसका मूल्य कम नहीं है। साम्यनिष्ठ और शासनमुक्त समाज की रचना की जा सकती है, इसमें यह संभावना प्रस्फुट हुई है।

साम्यनिष्ठ और शासनमुक्त समाज-रचना का आधारभूत तत्त्व है—मानसिक विकास। यह विकास क्रोध, अभिमान, माया और लोभ के उपशमन से होता है। इसकी ओर पर्याप्त ध्यान दिए बिना साम्यनिष्ठ शासनमुक्त समाज रचना की आशा नहीं की जा सकती। महर्षि मार्क्स ने शासनमुक्त समाज की कल्पना की। उनके अनुसार साम्यवाद की चरम परिणति शासनमुक्त समाज है पर साम्यवाद वैसा हो नहीं सकता। साम्यवादी राष्ट्रों में शासन का नियंत्रण अधिक कठोर हुआ है। मेरी समझ में इसका कारण है—मानसिक विकास की अपेक्षा साम्यवादी राष्ट्रों ने समाज के भौतिक आधार में साम्य लाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसके मानसिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप उनकी जनता साम्यवादी हो गई किन्तु साम्यनिष्ठ नहीं हुई। जिसमें साम्य की निष्ठा नहीं होती, वह शासनमुक्त नहीं हो सकता। जिनका क्रोध उपशान्त नहीं है, वे लोग झगड़ालू होने के कारण समाज को शासनमुक्त होने में सहयोग नहीं दे

पाते। अभिमानी मनुष्य दूसरों को हीन मानकर वर्गभेद उत्पन्न कर देते हैं। मायावी मनुष्य दूसरों को ठगते रहते हैं। लोभी मनुष्य अपने हितों की पूर्ती के लिए दूसरों के हितों का विघटन कर डालते हैं। जिस समाज में उच्चता और हीनता, ठगाई और अपने स्वार्थों को प्राथमिकता देने की मनोवृत्ति होती है, वह शासनमुक्त कैसे हो सकता है? यदि महर्षि मार्क्स भौतिक व्यवस्थाओं के समीकरण के साथ आन्तरिक परिवर्तन की आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को जोड़ देते तो अवश्य ही साम्य का वाद साम्य की निष्ठा में बदलकर शासनमुक्त होने की ओर अग्रसर हो जाता। अहिंसक समाज में भौतिक व्यवस्थाओं के समीकरण के साथ आन्तरिक परिवर्तन की आध्यात्मिक प्रक्रिया समन्वित होगी, इसीलिए वह शासनमुक्ति की ओर सतत गतिशील होगी।

व्यक्तिगत स्वामित्व

शासनमुक्त समाज की रचना में सबसे बड़ी बाधा है व्यक्ति की संग्रहपरायण मनोवृत्ति। हर आदमी अर्थ का संग्रह करता है और उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करता है। क्या अहिंसक समाज में यह व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य हो सकता है? प्रवृत्ति का विकास प्रेरणा से होता है। अपने सुख व अपने स्वत्व की प्रेरणा बहुत प्रबल होती है। वैयक्तिकता को विलुप्त करने से विकास की प्रेरणा क्षीण हो जाती है। अतः अहिंसक समाज में व्यक्तिगत स्वामित्व एक सीमित अर्थ में ही मान्य हो सकता है। अहिंसक समाज का दूसरा पहलू होगा अपरिग्रही समाज। अहिंसा और अपरिग्रह एक-दूसरे से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। अहिंसक समाज का मुख्य सूत्र है—इच्छा-संयम, संग्रह-संयम और प्रवृत्ति का विकेन्द्रीकरण। इच्छा का विस्तार, अर्थ का केन्द्रीकरण और हिंसा—ये सब साथ-साथ चलते हैं।

अहिंसक समाज का सदस्य व्यक्तिगत धन कितना रखे, यह संख्या निर्धारित करना बड़ा जटिल है। इसका सरल सूत्र यह हो सकता है—जितनी आवश्यकता, उतना संग्रह। एक मनुष्य श्रम कर धन का अर्जन करता है, वह बहुत बड़ा संग्रह नहीं कर पाता। किसी मनुष्य में व्यावसायिक बुद्धि प्रबल होती है। वह बुद्धि बल के सहारे विपुल धन कमा लेता है। श्रमिक की आवश्यकता श्रम से नियमित होती है, अतः यह यथार्थ होती है। बौद्धिक की आवश्यकता भी बौद्धिक हो जाती है। उसकी कहीं कोई सीमा नहीं होती। फिर 'जितनी आवश्यकता उतना संग्रह' इसका क्या अर्थ होगा? अहिंसक समाज का सदस्य श्रमिक या बौद्धिक होने से

पहले संयमी होगा। अतः वह अवास्तविक आवश्यकताओं का अंबार खड़ा नहीं करेगा। उसका संग्रह दो नियामक तत्त्वों से नियंत्रित होगा—(१) अर्जन के साधनों की शुद्धि, (२) विसर्जन।

अहिंसक समाज में साधन-शुद्धि का साध्य से कम मूल्य नहीं होगा। अतः अहिंसक समाज का सदस्य अर्जन के साधनों की शुद्धि का पूर्ण विवेक रखेगा। वह व्यवहार में प्रामाणिक रहेगा—(१) किसी वस्तु में मिलावट कर या नकली को असली बताकर नहीं बेचेगा। (२) तोल-माप में कमी-बेशी नहीं करेगा। (३) चोर-बाजारी नहीं करेगा। (४) राज्य-निषिद्ध वस्तु का व्यापार व आयात-निर्यात नहीं करेगा। (५) सौंपी या धरी (बन्धक) वस्तु के लिए इन्कार नहीं करेगा।

अर्जन के साधनों की शुद्धि रखते हुए उसे जो अर्थ प्राप्त हो, वह उसके लिए अग्राह्य नहीं होगा। अहिंसक समाज की आवश्यकता व्यक्तिगत संयम के द्वारा नियंत्रित होगी। अतः उसका सदस्य अतिरिक्त अर्थ का विसर्जन कर देगा। वह विसर्जित अर्थ सामाजिक कोष के रूप में संगृहीत होगा। समाज-कल्याण के लिए उसका उपयोग होता रहेगा। भगवान् महावीर ने अहिंसा व्रत के दो सूत्रों का प्रतिपादन किया था—(१) अल्प आरम्भ, (२) अल्प परिग्रह। वर्तमान की भाषा में अल्प आरम्भ लघु व्यवसाय या लघु उद्योग और अल्प अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकतापूरक व्यक्तिगत स्वामित्व हो सकता है। अहिंसक समाज में महाआरम्भ (वृहत् व्यवसाय या वृहत् उद्योग) और महा-परिग्रह (विपुल संग्रह) व्यक्तिगत नहीं होंगे। उनका समाजीकरण दण्डशक्ति के आधार पर नहीं, विसर्जन के आधार पर होगा।

तीन भूमिकाएं

खाना स्वाभाविक लगता है। नहीं खाना स्वाभाविक नहीं लगता। खाने का समय न खाने के समय की अपेक्षा बहुत थोड़ा होता है। खाना शरीर की जरूरत है, इसलिए प्राणी खाता है। जरूरत पूरी होने पर वह नहीं खाता, यह उसका हित है, अतः वह खाना छोड़ देता है—खाने पर नियन्त्रण कर लेता है। नियन्त्रण शक्ति कम होती है, तो वह पेटू बन जाता है, जरूरत पूरी हो जाने पर भी खाता ही रहता है। यह विकार पक्ष है। परिमित खाना स्वभाव-पक्ष है। आरोग्य-संवर्धन के लिए स्वभाव-पक्ष का प्रतिरोध करना, नहीं खाना, भूख सहना—यह हित पक्ष है। समाज की सारी वृत्तियां इन तीनों पक्षों में समा जाती हैं। कानून या विधि-विधान व्यक्ति को विकार-पक्ष से स्वभाव-पक्ष की ओर

अग्रसर करता है। व्रत स्वभाव-पक्ष से हित-पक्ष की ओर जोने की साधना है या यूँ कहना चाहिए— विकास और स्वभाव में विरोध होता है, तब सामाजिक विधि का निर्माण होता है तथा स्वभाव और हित में विरोध होता है तब आध्यात्मिक या नैतिक व्रतों की साधना अपेक्षित होती है। विकार, स्वभाव और हित को परिभाषा की संज्ञा में अतिमात्रा और अमात्रा कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप वासना की अति मात्रा-पूर्ति विकार है। वासना की परिमित मात्रा-पूर्ति शरीर का स्वभाव है। वासना-विजय या वासना की अमात्रा हित है। स्वभाव की दृष्टि से विकार अकर्तव्य है और हित की दृष्टि से स्वभाव अकर्तव्य है। शरीर-स्वभाव की दृष्टि से अति मात्रा में खाना अकर्तव्य है पर आवश्यक व उपयोगी खाना अकर्तव्य नहीं है। परन्तु हित की दृष्टि से परिमित खाना भी अकर्तव्य हो जाता है। दूसरे के लिए पहले का त्याग (उत्तरवर्ती के लिए पूर्ववर्ती का त्याग) कर्तव्य की विशेष प्रेरणा से ही होता है। व्यक्ति में विवेक जागरण का उत्कर्ष होता है, तभी वह स्वभाव के लिए विकार का और हित के लिए स्वभाव का त्याग करता है !

जिस ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा हो, वहां उसका कर्तव्य माना जाए तो अकर्तव्य जैसा कुछ शेष ही नहीं रहता। शोषण, संग्रह और सत्ता की ओर मनुष्य की जैसी स्वतः स्फूर्त प्रेरणा होती है, वैसी असंग्रह के प्रति नहीं होती। किन्तु यह विकार के मोहक आवरण से ढकी हुई स्वाभाविक प्रेरणा है, इसलिए यह अकर्तव्य है। वैध ढंग से व्यापार, परिग्रह और अधिकार प्राप्ति की जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है, उसके पीछे आवश्यकता या उपयोगिता की सामान्य भावना होती है, इसलिए वह सामान्य कर्तव्य है। अपरिग्रह और असत्ता समाज के वर्तमान मानस में स्वाभाविक प्रेरणा-लभ्य नहीं है, इसलिए ये प्रधान कर्तव्य हैं। अणुव्रती समाज-व्यवस्था में ये तीन भूमिकाएं होंगी-अकर्तव्य का वर्जन, सामान्य कर्तव्य का नियन्त्रण, प्रधान कर्तव्य का विकास।

प्रधान लक्ष्य

जीवन की आवश्यकताएं नहीं छूटतीं-यह निर्विकल्प है। विकल्प उनके पूर्ति-क्रम में होते हैं। पूर्ति की पद्धति सामाजिक होती है, उसके पीछे उसकी दार्शनिक मान्यताएं होती हैं। इच्छा पर नियन्त्रण करना सभी समाजों में मान्य होता है। यह समाज की एकरूपता है। नियन्त्रण का तारतम्य और उसके प्रेरक हेतु सब में एकरूप नहीं होते। नियन्त्रण के चार प्रकार हैं—(१) भौतिक, (२)

राजनीतिक, (३) सामाजिक, (४) नैतिक या आध्यात्मिक । उनके प्रेरक हेतु क्रमशः ये हैं—प्रकृति-भय, राज्य-भय, समाज-भय और आत्मपतन-भय ।

इनमें पहले तीन भय बाहरी और आखिरी भय आन्तरिक हैं । प्रकृति, राज्य और समाज की मर्यादा का उल्लंघन करने वाला उनके द्वारा दण्ड पाता है । इसलिए जहां दण्ड की आशंका हो, वहां उनकी मर्यादा का पालन और जहां वह न हो वहां मर्यादा की अवगणना भी हो जाती है । आत्मिक-नियन्त्रण दण्ड प्रेरित नहीं होता । वह व्यक्ति का अपना आन्तरिक विवेक-जागरण है । इसलिए उसमें बाहर भीतर का द्वैध नहीं होता । प्रकाश या तिमिर, परिषद् या एकान्त में बुराई से बचने की समवृत्ति हो जाती है, यही आध्यात्मिक भय है । यह भय रखने वाला बाहर की किसी भी शक्ति से नहीं डरता । सही माने में वह अभय है । अहिंसक समाज-व्यवस्था में नियन्त्रण का प्रेरक हेतु आत्मपतन का भय है ।

आवश्यकताएं अधिक रहें, वैसी दशा में नैतिक निष्ठा बन नहीं सकती । उनके बिना अहिंसा केवल औपचारिक हो जाती है । इसीलिए आवश्यकताएं कम करना भी अहिंसक समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है । अधिक आवश्यकताएं निर्वाह-मूलक नहीं होतीं । वे इच्छा पर नियन्त्रण न कर सकने की स्थिति में होती हैं । यह रोग का मूल है । इच्छा पर नियन्त्रण नहीं होता, तब आवश्यकताएं बढ़ती हैं । जब आवश्यकताएं बढ़ती हैं, नैतिक निष्ठा कम होती है । नैतिक निष्ठा कम होती है, अहिंसा औपचारिक बन जाती है । औपचारिक अहिंसा से वह शान्ति नहीं मिलती, जो उससे मिलनी चाहिए । इसलिए अहिंसक समाज व्यवस्था का सबसे पहला या प्रधान लक्ष्य है—इच्छा का नियन्त्रण ।

क्या अहिंसक समाज रक्षा के लिए मनुष्य पुलिस और सेना पर निर्भर होगा या उसे उनकी अपेक्षा नहीं होगी ? इस प्रश्न पर मानवीय प्रकृति तथा समग्र विश्व के संदर्भ में विचार किया जा सकता है । देश की आंतरिक सुरक्षा का दायित्व पुलिस पर और बाहरी आक्रमण की सुरक्षा का दायित्व सेना पर होता है । अहिंसक समाज की स्थापना होने पर आंतरिक मामलों में सेना के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होगी और पुलिस की आवश्यकता भी कम-से-कम होगी । अहिंसक समाज में अणुव्रत का यह व्रत अनिवार्यतः पालनीय होगा—“मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूँगा और आक्रामक नीति का समर्थन भी नहीं करूँगा ।” अहिंसक समाज में सेना आक्रमणकारी नहीं होगी । उसका काम केवल अपनी सीमा की सुरक्षा करना हो होगा । पुलिस और सेना से मुक्त समाज की कल्पना प्रिय बहुत पर व्यवहार

की भूमिका में उसका अवतरण अल्पकाल और साधारण प्रयत्न साध्य नहीं है । निष्कर्ष की भाषा में निकट भविष्य में उसकी सम्भावना नहीं है ।

मूल्यों का परिवर्तन

अहिंसक समाज की संरचना के सामने सबसे बड़ी समस्या है-मूल्यों का परिवर्तन । श्रम, वस्तु और संग्रह के मूल्य बदले बिना अहिंसक समाज-रचना की संभावना नहीं की जा सकती । अहिंसक समाज की स्थापना में सबसे बड़ी बाधा है स्वार्थ । वह वैयक्तिक बड़प्पन और सुखानुभूति की प्रेरणा है । उसे कैसे बदलें ? क्या जनसाधारण किसी सैद्धान्तिक प्रेरणा को सामाजिक स्तर पर स्वीकार करने को तैयार हो सकता है ? इसमें भी हित-साधन की भावना कुछ ही लोगों में जागृत होती है । अधिकांश लोग अपने हित-साधन की चेष्टा में लगे रहते हैं । इस समस्या का आधारभूत आश्वासन यह है कि मानव-स्वभाव सतत गतिशील और विकासशील है । यदि समाज की धारा को एक ही धारा में प्रवाहित किया जाए तो स्वार्थ-संयम की बात उसके संस्कारों में रूढ़ हो सकती है । इस कार्य की निष्पत्ति में आध्यात्मिक वातावरण, आंशिक रूप में सामाजिक दबाव और सत्याग्रह अत्यन्त उपयोगी हो सकते हैं । स्वार्थ-शासित समाज में नैतिकता, श्रम और स्वावलंबन का अवमूल्यन हो जाता है । करुणा-शासित समाज में नैतिकता, श्रम और स्वावलंबन का मूल्य बढ़ जाता है ।

अहिंसा की समस्याएं

शोषण, गरीबी, बेकारी, तनाव और शस्त्रीकरण-आज की सार्वभौम समस्याएं हैं। राजनीतिक जीवन-प्रणालियों के आधार पर इनके समाधान खोजे गए हैं और खोजे जा रहे हैं। पर समस्याएं आज भी विकट हैं। समस्याएं परिस्थिति की उपज हैं और समाधान भी परिस्थिति में ही खोजा जा रहा है। परिस्थिति को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। वह प्रत्यक्ष सत्य है। उसे झुठलाया नहीं जा सकता।

हिंसा और अहिंसा दो खेमे बन गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों एक-दूसरे को परास्त करने की प्रतीक्षा में हैं। यह अच्छी स्थिति नहीं है। ये दोनों एकांगी दृष्टिकोण हैं। एकांगिता में सचाई नीचे चली जाती है और संघर्ष उभरकर सामने आ जाता है। आज वास्तव में ही हिंसा और अहिंसा के बीच संघर्ष है। यह वांछनीय नहीं है। हिंसा जीवन की अनिवार्यता है, यह सर्वसम्मत सत्य है। क्या अहिंसा जीवन की अनिवार्यता नहीं है? हिंसा के बिना जीवन चल ही नहीं सकता, एक दिन भी नहीं चल सकता। हम इस सचाई को न भूलें कि हिंसा अहिंसा के कंधे पर चढ़कर ही चल रही है। हिंसा और अहिंसा दोनों हैं यह समस्या नहीं है। समस्या यह है कि हिंसा जितनी मात्रा में चल रही है, उतनी मात्रा में अनिवार्य नहीं है। अहिंसा जितनी मात्रा में अनिवार्य है, उतनी मात्रा में वह नहीं है। यह मात्रा का असंतुलन है, इसे संतुलित करना आज की जरूरत है। अहिंसा में आस्था रखने वाले इस कार्य में लगे, यह आज की मांग है।

हिंसा और अहिंसा का असंतुलन अंतर्राष्ट्रीय जगत् पैदा कर रहा है। हिंसा की संहारक शक्ति बहुत बढ़ गई है। अहिंसा के छोटे-मोटे प्रयत्न उसे कम कर सकें, यह संभव नहीं है। हिंसा को बढ़ावा देने के लिए जितने प्रयत्न हो रहे हैं, उनकी तुलना में अहिंसा के विकास के लिए होने वाले प्रयत्न नगण्य हैं।

हिंसा में जितना आकर्षण है, उतना अहिंसा में नहीं है। पर उसके प्रति हमारा सबसे बड़ा आकर्षण यह है कि उसके बिना मनुष्य जाति का अस्तित्व ही खतरों में पड़ जाता है। खतरा जैसे-जैसे बढ़ रहा है, वैसे-वैसे अहिंसा के प्रति ध्यान

आकर्षित हो रहा है। हिंसा की प्रखरता ने अहिंसा को फिर से उपस्थित किया है। इस स्थिति का लाभ उठाना जरूरी है।

हम हिंसा को एक स्वतंत्र प्रवृत्ति माने हुए हैं। अहिंसा की असफलता का यह पहला चरण है। हिंसा का मूल कारण है आर्थिक दुर्व्यवस्था। इस पर विचार किए बिना हम अहिंसा का मूल्यांकन नहीं कर सकते। हिंसा और परिग्रह इन दोनों में परिग्रह का स्थान पहला है, हिंसा का स्थान दूसरा है। इसी प्रकार अहिंसा और अपरिग्रह इन दोनों में अपरिग्रह का स्थान पहला है, अहिंसा का स्थान दूसरा है। अहिंसा परमोधर्म की रट ने सचाई पर पर्दा डाल दिया। मनुष्य का शोषण करने वाला भी अपने आपको अहिंसक मान सकता है। यह अहिंसा की अवमानना ही है, यदि 'अपरिग्रहः परमोधर्मः' का स्थान पहला और 'अहिंसा परमोधर्मः' का स्थान दूसरा होता तो अहिंसा अधिक तेजस्वी बन पाती।

अहिंसा की तेजस्विता प्रकट होनी चाहिए। सृजनात्मक शक्ति और प्रतीकात्मक शक्ति के बिना उसकी संभावना नहीं की जा सकती। आज हमने अहिंसा को कायरता का प्रतीक मात्र बना रखा है। अहिंसक आदमी में त्याग, बलिदान और मरने की तैयारी नहीं है।

अहिंसा के विषय में पुनर्विचार की आवश्यकता है। उसका कार्यक्रम आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में आयोजित है। शस्त्रीकरण जैसी भयंकर समस्या के प्रति विश्व-चेतना को जागृत करना, आर्थिक व्यवस्था की विषमता से होने वाली समस्याओं और उनसे फलित होने वाली हिंसा के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित करना, मानसिक तनाव और अपराधी मनोवृत्ति के मूल में पनपने वाली हिंसा के विषय में अनुसंधान करना और उनकी रोकथाम के लिए उपाय सुझाना आदि-आदि अहिंसा को तेजस्वी बनाने के उपाय हैं। अहिंसा के लिए संवेदनशीलता का विकास जरूरी है, पर आज केवल उसी के आधार पर अहिंसा को व्यापक और शक्तिशाली नहीं बनाया जा सकता। वैज्ञानिक युग की पृष्ठभूमि को समझकर अहिंसा का नया आयाम उद्घाटित किया जा सकता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिंसा व्याप्त है-भोजन से भाव तक। हिंसा को रोकना संभव नहीं है। जीवन में अनावश्यक हिंसा अधिक चलती है। मनुष्य प्राणी-जगत् के प्रति संवेदनशील और जागरूक नहीं है, इसीलिए उसमें हिंसा का भाव प्रबल है। लड़ाई, युद्ध जैसे बड़े संघर्ष हमें चिंतित करते हैं। पर हिंसा के बीज से हम चिंतित नहीं हैं। छोटी-छोटी हिंसाएं बड़ी हिंसा को जन्म देती हैं, इस

सचाई का अनुभव करना अहिंसा की दिशा में एक कदम हो सकता है। जो मानसिक तनाव घरेलू झगड़ा पैदा करता है, वही मानसिक तनाव युद्ध पैदा करता है। मानसिक तनाव को मिटाने का कार्यक्रम चलाना अहिंसा के विकास का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

आहार-शुद्धि विश्वशान्ति की दिशा में एक शक्तिशाली अभियान है। आकांक्षा, क्रूरता और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति ये सब भोजन से जुड़े हुए हैं। मांसाहार इन सब संस्कारों को संरक्षण देता है। अणुव्रत के स्तर पर इस सचाई को समझा जा सकता है।

पूरे विश्व में अपराधी मनोवृत्ति बढ़ रही है, अपराध बढ़ रहे हैं। उनकी रोकथाम के लिए शस्त्रबल और आरक्षीबल का प्रयोग बढ़ रहा है। यह समस्या के समाधान का तरीका नहीं है। मनुष्य की भावधारा को बदले बिना अपराधों की बाढ़ को नहीं रोका जा सकता। अहिंसक लोगों द्वारा मनुष्य की भावधारा को बदलने की दिशा में कोई प्रभावी कदम नहीं उठ रहा है। घटना को रोकने में जितनी दिलचस्पी है, उतनी घटना के कारणों को रोकने में नहीं है। अहिंसा परिणाम के साथ जुड़ी रहेगी, तब तक स्थिति में परिवर्तन संभव नहीं है, उसे प्रवृत्ति के साथ जोड़ना जरूरी है। प्रवृत्ति बदलने पर परिणाम अपने आप बदल जाता है। अहिंसा का विचार अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचे तो नये वातावरण के निर्माण में योग मिलेगा, जनता वास्तविकता से परिचित होगी।

अहिंसा तेजस्वी कैसे हो ?

अहिंसा की चर्चा बहुत हुई है । सौभाग्य है इस भूमि का जहां अहिंसा के स्वर तरंगित होते रहे हैं । साबरमती का आश्रम भी उन तरंगों से तरंगित है । कोई भी ध्वनि या तरंग व्यर्थ नहीं जाती है । चिरकाल तक वह अपना अस्तित्व बनाए रखती है । फिर इस वैज्ञानिक युग में इस बात को न मानने का कोई कारण नहीं कि यह आश्रम उन तरंगों से तरंगित नहीं है । आज उस ध्वनि- तरंग का एक प्रयोग किया जा रहा है । अहिंसा के एक महान प्रयोक्ता आचार्य श्री तुलसी उसी आश्रम में एक संकल्प के साथ उपस्थित हैं ।

बहुत बार यह कहा जाता है कि अहिंसा का विकास होना चाहिए । जब-जब हिंसा की बाढ़ आती है, अहिंसा की मांग प्रबल हो जाती है । किन्तु एक बात हम भूल जाते हैं कि अहिंसा एक निष्पत्ति है, कोई मूलभूत कारण नहीं । हम हमेशा निष्पत्ति को ज्यादा चाहते हैं, उसकी पृष्ठभूमि में पलने वाली सामग्री को नहीं चाहते । यह एक बहुत बड़ी विडम्बना है । अहिंसा के साथ यह नियति न जाने क्यों जुड़ी ? अहिंसा का जीवन हम जीना चाहते हैं, किन्तु इसकी पृष्ठभूमि में जो समस्या है, उसका सामना करना नहीं चाहते । अहिंसा को तेजस्वी बनाने की बात आती है तो मैं सोचता हूँ कि अहिंसा शब्द को ही सामने लाने की बात नहीं रहेगी, उसके पीछे क्या करणीय है, उस पर भी हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए । अहिंसा सार्वभौम की परिकल्पना के पीछे यही बात जुड़ी हुई है कि किस प्रकार का मनोभाव विकसित किया जाए कि अहिंसा अपने आप अवतरित हो पूरी तेजस्विता के साथ ।

अहिंसा के विकास के लिए गहरी बात है हृदय-परिवर्तन की । प्राचीन काल से लेकर आज तक हृदय-परिवर्तन का अपना मूल्य है । हिंसा में विश्वास करने वाले लोग भी इन बातों पर बहुत महत्व देते हैं कि जब तक 'ब्रेनवाश' नहीं किया जाता, तब तक आदमी को बदला नहीं जा सकता । तो, ब्रेनवाश आखिर क्या है ? हृदय-परिवर्तन ही तो है । मस्तिष्क की धुलाई, मस्तिष्क का परिवर्तन, यह तो नितान्त अपेक्षित माना जाता रहा है । केवल डंडे के बल पर ही शासन चलाने

वाले भी जानते हैं कि समाज को इस तरह चलाया नहीं जा सकता। समाज कोई जानवरों का समूह नहीं, जिसे डंडे से हांका जा सके।

दो महत्वपूर्ण शब्द हैं—हृदय-परिवर्तन और साधन-शुद्धि में विश्वास। अहिंसा के क्रम में ये दो आधारभूत क्रम हैं। किन्तु हम मात्र शब्दों को पकड़ते हैं। यह नहीं जानते कि हृदय-परिवर्तन कैसे होता है? इसकी प्रक्रिया क्या है? साधन-शुद्धि में हमारी आस्था कैसे बढ़े? यह तो प्रक्रिया की विस्मृति हुई है, अहिंसा सार्वभौम की कल्पना में इसी पर सबसे ज्यादा बल दिया गया था। जब तक मनुष्य में आस्था बल नहीं जागेगी, तब तक अहिंसा की संभावना नहीं की जा सकती। सबसे गहरी बात है आस्था का बल और समर्पण। समर्पण भी एक महान शक्ति के प्रति और एक महान लक्ष्य के प्रति।

प्राचीन मिस्र देश में दास प्रथा थी। वहां गुलामों की बिक्री होती थी। एक दिन बाजार में गुलामों की बिक्री हो रही थी, बोलियां लगाई जा रही थीं तो एक महात्मा उधर से निकले। पूछा तो बताया गया कि गुलामों की बिक्री हो रही है। महात्माजी एक दास के पास गए और पूछा—तुम क्या करोगे? उत्तर मिला—जो मालिक कहेगा। क्या खाओगे? जो मालिक देगा। कहाँ रहोगे? जहाँ मालिक कहेगा। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर—मालिक की इच्छा। महात्मा रो पड़ा। बोला—एक दास में इतना समर्पण, और मैं भगवान की प्राप्ति में निकला हूँ, किन्तु आज तक भगवान के प्रति इतना समर्पित नहीं हो सका।

दूसरी बात, अहिंसा के विकास के लिए चाहिए अभय। जब तक अभय का विकास नहीं होगा तब तक अहिंसा की चर्चा ही व्यर्थ है। जो व्यक्ति डरता रहता है, वह कभी अहिंसा को तेजस्वी नहीं बना सकता।

तीसरी बात है सद्भावना का विकास। मैत्री या प्रेम का विकास। अपने विरोधी के प्रति भी मन में पूरी सद्भावना जिसके नहीं होगी, वह सफल अहिंसक नहीं हो सकता। महात्मा गाँधी ने बहुत गहरी भेद रेखा खींची थी पापी और पाप बीच में। पाप या बुराई के प्रति घृणा का भाव हो सकता है किन्तु व्यक्ति के प्रति नहीं, पापी के प्रति नहीं। जब इस सद्भावना का विकास होता है, तभी अहिंसा की संभावना की जा सकती है। आज तो मुझे लगता है कि धार्मिकों में, अहिंसा के समर्थकों में भी इतनी गहन सद्भावना की बात दिखाई नहीं देती। यदि होती तो जातीयता, साम्प्रदायिकता आदि के ताप से हिन्दुस्तानियों का मानस संतप्त नहीं होता। सद्भावना के लिए अनिवार्य है कष्ट-सहिष्णुता का विकास।

जो कष्ट-सहिष्णु नहीं, वह अहिंसा के पथ पर चल नहीं सकता। अहिंसक व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी कष्ट-साहिष्णुता का विकास करता है और समय पर अहिंसा के लिए आने वाले बड़े से बड़े कष्ट को झेलने की वह क्षमता रखता है।

आचार्य भिक्षु अहिंसा के एक बहुत बड़े व्याख्याकार ही नहीं, प्रयोक्ता भी थे। उनके लिए जयाचार्य ने लिखा है—‘मरण धार सुध मग लियो।’ उन्होंने अहिंसा के पथ पर चलने का संकल्प लिया तो इस प्रकल्पना के साथ कि प्राण दे दूँगा पर इस मार्ग से कभी विचलित नहीं होऊँगा। इस संकल्प के लिए उन्होंने इतनी कठिनाइयाँ झेली कि उन्हें हर आदमी झेल नहीं सकता।

यह आन्तरिक बल का विकास, वीरता, पराक्रम, कहीं भी हिंसा के सामने घुटने न टेकने का प्रबल संकल्प, अदम्य आत्म-विश्वास—ये अहिंसा की शर्तें हैं। इनका विकास किए बिना अहिंसा को तेजस्वी बनाने की बात संभव नहीं है। प्रश्न होगा, यह कैसे संभव है? इसी पर तो हमें विचार करना है। आदमी कर सकता है। आदमी की क्षमता में पूरा विश्वास है, यदि वह अपनी क्षमता को जान सके। आज के मनोवैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अभी तक मनुष्य के मस्तिष्क का पांच-छह प्रतिशत ही विकास हो पाया है। शेष भाग को भी जागृत और विकसित किया जा सकता है। इस बिन्दु पर आकर हमारे सामने अहिंसा के शोध की, प्रयोग की और प्रशिक्षण की एक अपेक्षा आ जाती है।

आज अहिंसा के विषय पर बात करने वाले भी इस बात को नहीं जानते कि अहिंसा की प्रकृति क्या है? अहिंसा कैसे काम करती है? जब तक अहिंसा के काम करने की शैली से परिचित नहीं होंगे, अहिंसा का विकास कैसे कर पाएंगे? अहिंसा कब और कैसे काम करती है, इस विषय में जो लोग प्रश्न करते हैं, उन्होंने भी यह अनुभव किया है कि इस पर जितने शोध की अपेक्षा है, उसका अंश मात्र भी नहीं हो पाया है। अहिंसा का सबसे ज्यादा विकास हुआ भारतवर्ष में। यहाँ अहिंसा के बारे में काफी चिन्तन हुआ। आज नये सन्दर्भ में यह चिन्तन होना चाहिए कि अहिंसा को कैसे सफल बनाया जाए?

अहिंसा के प्रश्न पर गंभीरता से चिन्तन करना होगा। केवल अहिंसा पर भाषण और उपदेश देने से कुछ नहीं होगा। हिंसा के विकास के समर्थन में बड़े ही अजीबोगरीब तर्क दिए जाते हैं। जब इन घातक शस्त्रों के निर्माता राष्ट्रों के सामने प्रश्न होता है कि इतने शस्त्रों का विकास क्यों? उनका कितना सुन्दर तर्क है कि शान्ति-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए शस्त्रों का विकास किया जा रहा

है। यानी शस्त्र का निर्माण शान्ति के लिए किया जा रहा है। जब संतुलन रहेगा तो युद्ध नहीं होगा। जब वह शक्ति-संतुलन बिगड़ जाएगा-एक राष्ट्र शस्त्रों का अंबार लगाएगा, दूसरा पिछड़ जाएगा तो युद्ध छिड़ेगा। यह शक्ति-संतुलन ही विश्व-शान्ति का सबसे बड़ा आधार है। कितना सुन्दर तर्क है यह तथाकथित शान्ति के समर्थकों का। हिंसा के समर्थन में इतने तर्क, प्रयोग, इतनी खोजें जो आदमी कर रहा है, उसकी तुलना में तो बेचारी अहिंसा दयनीय-सी एक ओर खड़ी है।

अहिंसा का प्रश्न समूची मानव जाति से संबद्ध है। अहिंसा की केवल दुहाई देने से कुछ नहीं होगा। प्रयोगात्मक रूप से इस पर कुछ करने की अपेक्षा है। या तो कुछ करें, नहीं तो इस पर सोचना ही छोड़ दें, धोखा तो नहीं होगा कम-से-कम। अहिंसा को धोखा देना सारे संसार की मानव जाति को धोखा देना है।

इस सारी स्थिति से बचने के लिए परिकल्पना की गई है कि अहिंसा के क्षेत्र में कुछ सक्रिय प्रयोग किया जाए। कुछ क्रियात्मकता हो, केवल पुराने पाठों को न दोहराया जाए। यह अहिंसा सार्वभौम की परिकल्पना आज उपस्थित हो रही है उस पुण्यभूमि में जहाँ यह स्वर कभी गुंजित हुआ था। अहिंसा सार्वभौम इस परिकल्पना के साथ जो नया कार्य शुरू कर रहा है, वह अहिंसा के गीत गाने का नहीं होगा, बल्कि, अहिंसा की तेजस्विता की पृष्ठभूमि में मानवीय गुणों का, मानवीय सम्बन्धों के विकास की प्रक्रिया का होगा।

इस अवसर पर मैं बड़ी गंभीरता के साथ अनुभव कर रहा हूँ कि आज का दिन अहिंसा के इतिहास में फिर एक नया दिन होगा। जिस प्रकार गांधी जी ने जो प्रयोग दिए, जैसे असहयोग, प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास, सविनय अवज्ञा आदि, ये सब नई अवधारणाएं थीं, इनसे अहिंसा तेजस्वी बनी थी। मेरा विश्वास है कि अहिंसा में विश्वास करने वाले लोग इस सन्दर्भ में गंभीरता से चिन्तन करेंगे और अपनी अधिक-से-अधिक शक्ति का इसमें नियोजन करेंगे।

संवेदनशीलता : एक अपेक्षा

हमारी कोई दूसरी समस्या नहीं है। समस्या व्यक्ति स्वयं है। हमारी प्रवृत्ति हो गई है कि हम समस्या दूसरे में देखते हैं, दूसरे में अनुभव करते हैं, अपने आप में समस्या का अनुभव नहीं करते जबकि सारी समस्याओं का बिन्दु व्यक्ति स्वयं बना हुआ है। व्यक्ति ही सबसे बड़ी समस्या है। अगर हम इस समस्या के समाधान तक पहुँच जाएं तो शायद बाहर की काल्पनिक समस्याओं में जाने की जरूरत भी नहीं होगी। कहा जाता है कि लोग दुःख का अनुभव करते हैं और उसका समाधान चाहते हैं। लोग दुःख का अनुभव कहां करते हैं? अगर दुःख का अनुभव करते तो दुःख छूट जाता। आदमी इतनी गहन मूर्च्छा में बैठा है कि वह अनुभव ही नहीं करता कि मैं बीमार हूँ। बीमार अपने आपको अनुभव नहीं करता। जिस दिन वह ऐसा अनुभव करने लग जाए तो स्वस्थ बनने में विलम्ब नहीं होगा।

मैं तीसरे नेत्र में विश्वास करता हूँ। देखने के लिए दो आँखें हैं। आँखों का काम हमारे सामने है। यहाँ से सारी समस्याएं पैदा हो रही हैं। एक आँख का काम है प्रियता का संवेदन और दूसरी आँख का काम है, अप्रियता का संवेदन। हमारी दुनिया समाप्त। इससे आगे हमारी कोई पहुँच नहीं है। हमारे जगत् की सीमा है प्रियता और अप्रियता का संवेदन। हम यदि समस्या के समाधान की बात करें, बीमारी को समाप्त करने की बात करें तो हमें इस बात पर भी विचार करना होगा कि हमें तीसरा नेत्र चाहिए। तीसरी आँख चाहिए। जब तक आदमी का तीसरा नेत्र नहीं खुलेगा, तब तक बन्धुओ, समस्या का समाधान नहीं होगा।

कितना प्रयास हो रहा है। सारी सरकारें जनता की समस्याओं को सुलझाने के लिए उलझ रही हैं। कितने अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, समाजसेवी समस्या को सुलझाने में लगे हुए हैं। कितने धर्म-गुरु समस्या को सुलझाने के लिए तत्पर हो रहे हैं। किन्तु समस्या उलझती ही चली जा रही है। कारण स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य का तीसरा नेत्र नहीं खुलेगा, तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। स्थिति तो यह है कि समस्या को सुलझाने वाले स्वयं उसमें उलझे हुए हैं। अपेक्षा

है कि तीसरा नेत्र खुले और हम यथार्थ का अनुभव कर सकें। व्यक्ति और समाज दोनों हमारे सामने हैं। व्यक्ति समाज से अपने आपको स्वतन्त्र मान बैठा है और समाज को व्यक्ति की चिन्ता नहीं है। बड़ी उलझन है।

आज की सबसे बड़ी समस्या है व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का विकास। हमारा घोष समाजवाद का है किन्तु हम बन रहे हैं व्यक्तिवादी। कितना स्वार्थ? परमार्थ से तो हमारा पीछा ही छूट गया। परमार्थ से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा। न जाने कितने धर्म के आचार्य फिर वे जैन आचार्य हों, बौद्ध आचार्य हों, वेदान्त के आचार्य हों, अध्यात्म और परमार्थ की गाथाएं गाने वाले हों, किन्तु आज तो लगता है कि परमार्थ बहुत पिछड़ गया। आज व्यक्ति व्यक्तिवादी बन गया और सारा दृष्टिकोण व्यक्तिवादी बन गया।

इस स्थिति में सबसे बड़ा उपाय है अध्यात्म-चेतना का जागरण। मैं मानता हूँ कि युग-चेतना का जागरण भी आज यही है। आचार्य तुलसी युगप्रधान आचार्य हैं, युगद्रष्टा हैं, युग को बदलने वाले तथा देखने वाले हैं। जो व्यक्ति युग को बदल सकता है, वह युग की धारा को बदल सकता है। आज कोई भी व्यक्ति आए, किन्तु आध्यात्मिक चेतना को जगाए बिना युग की धारा को नहीं बदल सकता। छोटे आदमी से लेकर उच्चतम सत्ता में बैठे आदमी तक में भी स्वार्थ काम कर रहा है। पहले स्वार्थ अपने घर-परिवार तक ही सीमित था, किन्तु अब स्वार्थ बहुत व्यापक बन गया है। दल के लिए स्वार्थ, पार्टियों के लिए स्वार्थ, सब चीज के लिए स्वार्थ। इस स्वार्थ के वातावरण में एक आचार्य का अभिनन्दन क्या कोई विसंगति वाली बात नहीं है? मैं अभिनन्दन करने वालों से पूछना चाहता हूँ। जो लोग स्वागत करने के लिए तैयार हैं, जिन्होंने स्वागत किया है, वे लोग कहीं विरोधाभास को तो नहीं पाल रहे हैं? कहीं विसंगति को तो पैदा नहीं कर रहे हैं? हमारे जीवन में एक सामंजस्य होना चाहिए। स्वयं से प्रश्न पूछना है कि क्या किसी आचार्य का अभिनन्दन करने में कोई तुक है, संगति है? मुझे तो समाधान नहीं मिलता। बोलना और कहना भी एक धन्धा बन गया है। उपदेश सुनने वालों की कमी नहीं। वे तो पूरी तरह अपना अधिकार जमाए हुए हैं। पहले तो शायद उपदेश देने का अधिकार धर्म-गुरुओं को ही था, आज तो वह अधिकार इतना व्यापक हो गया कि वर्तमान का सबसे बड़ा, उपदेशक राजनेता बन गया। बड़ी समस्या पैदा हो गई। इस स्थिति में अपेक्षा है पुनर्विचार की। आचार्य तुलसी का यहां आना, चाहे और कहीं जाना, एक उद्देश्य से होता है और वह है पुनर्विचार।

मैंने आचार्यश्री को बहुत निकट से देखा है, सुना है। मैं कह सकता हूँ कि आचार्यश्री धर्म के झूठे आश्वासनों को तोड़ रहे हैं। राजनैतिक आश्वासनों पर भरोसा नहीं। सामाजिक कार्यकर्ताओं पर भरोसा नहीं। किन्तु भारतीय जनता को धर्म के आश्वासन पर भरोसा है। धर्म के द्वारा परलोक को सुधारने का आश्वासन मिलता है। वर्तमान की बात छोड़ दें। उसकी चिन्ता भी लोगों को नहीं है। परलोक सुधारने की चिन्ता है। आचार्य तुलसी इस आश्वासन को तोड़ रहे हैं। 'लोग पूछते हैं' कि धर्मक्रान्ति का स्वरूप क्या होगा? आचार्य तुलसी ने जिस धर्म क्रान्ति की बात की, उसका पहला चरण यही है कि जिसको आश्वासन मान बैठे हो, उस भ्रान्ति को तोड़ डालो। उस आश्वासन को समाप्त कर दो।

आज हम धर्म से चित्त की शुद्धता, पवित्रता नहीं मांग रहे हैं। हमारा आश्वासन यह है कि धर्म करो, परिवार सुखी होगा, बीमारी नहीं आएगी और पैसा खूब मिलेगा। यह है हमारे धर्म की अवधारणा। ज्योति पर इतनी राख आ गई कि उसका कहीं साक्षात्कार भी नहीं हो रहा है। आचार्य तुलसी ने इस आश्वासन को तोड़ने का भरपूर प्रयास किया है। आचार्य तुलसी ने, युग के साथ जो अपने को नास्तिक मान बैठे थे, उन्हें आस्तिक घोषित कर दिया। आज आचार्य तुलसी ने नास्तिकों की कतार खड़ी कर दी है।

बन्धुओ। जरूरत है तीसरे नेत्र की। मिले कैसे? एक छोटा-सा लड़का भीख मांग रहा था। एक भाई ने कहा—यह लो एक रुपया देता हूँ। पर एक बात पूछना चाहता हूँ। तुम अभी छोटे हो। बच्चे हो। लोगों से पैसा मांगते हो। आंख क्यों नहीं मांग लेते?

उस भिखारी लड़के ने बहुत ही मार्मिक उत्तर दिया। उसने कहा— 'बाबूजी। लोगों के पास पैसा है, इसीलिए पैसा मांग लेता हूँ। आंख उनके पास है कहां जो उनसे मांगू।' सबसे बड़ी समस्या है चक्षु की, आंख। तीर्थंकर के लिए कहा गया कि वे चक्षुदान देने वाले हैं। सबसे बड़ा व्यक्ति वह होता है, जो चक्षुदान देता है। आंख की जरूरत है आज के संसार में। इन नेत्रों से काम चलने वाला नहीं है। तीसरे नेत्र की जरूरत है। अतीन्द्रिय चेतना का विकास यानी तीसरे नेत्र का जागरण। जब तक वह नहीं होगा तब तक आचार्यश्री तुलसी का अभिनन्दन करने में हमें विसंगतियों का ही अनुभव होता रहेगा।

सामाजिक क्षेत्र हो, आर्थिक क्षेत्र हो, धार्मिक क्षेत्र हो, कोई भी क्षेत्र हो, उस पर आज पुनर्विचार करने की जरूरत है। धार्मिक क्षेत्र में तो सबसे अधिक विचार

की अपेक्षा है। मानते चले जा रहे हैं। धर्म के क्षेत्र में सब कुछ मानने के आधार पर चल रहा है। इस मानने का कहीं चरम बिन्दु ही दिखाई नहीं पड़ता। कोई सीमा ही दिखाई नहीं देती।

आज करुणा की धारा सूख गई है। करुणा होती है तो अनेक बुराइयां स्वतः ही दूर हो जाती हैं। आचार्यश्री इस भूमि पर ऐसा कोई प्रयोग करें कि वह भारतीय धारा पुनः प्रवाहित हो जाए। बौद्धिकता ने भावात्मक स्रोत को सुखा दिया है। संवेदनशीलता को कोई अवकाश नहीं रहा। इसीलिए समाज हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया है। आचार्यश्री का अहमदाबाद-आगमन भले ही अल्पकाल का है, किन्तु वह इतना मूल्यवान होगा कि निश्चित ही कोई नया आयाम खुलेगा, नयी दिशा हमारे सामने प्रकट होगी, यही मेरी मंगल-भावना है।

नया जन्म लें

हर युग की अपना समस्याएं होती हैं। वर्तमान की भी अपनी समस्याएं हैं। आदमी सदा अपनी समस्या का समाधान खोजता है और खोजता रहा है। तो क्या समस्या भी वर्तमान की और समाधान भी वर्तमान का, यही पर्याप्त है या इसके सिवाय दूसरा भी कोई विकल्प हमारे सामने है ?

मैंने पढ़ा अमेरिका की एक पत्रिका 'टाइम्स' में कि अब सिंगापुर, चीन आदि में कम्प्यूशियस को फिर लाया जा रहा है। यानी कि वर्तमान समस्या का समाधान अतीत में खोजने का प्रयत्न किया जा रहा है।

हमें महावीर को समझना है तो शाश्वत और अशाश्वत दोनों को समझना होगा। अतीत और वर्तमान, दोनों को समझना होगा। हमारी कुछ समस्याएं शाश्वतवादियों ने उत्पन्न की हैं और कुछ समस्याएं अशाश्वतवादियों ने उत्पन्न की हैं। जो केवल शाश्वत में विश्वास करते हैं, उन्होंने समस्याएं पैदा की हैं। जो केवल वर्तमान को मानते हैं उन्होंने भी समस्याएं पैदा की हैं और जो केवल अतीत को पकड़े बैठे हैं, उन्होंने भी समस्याएं पैदा की हैं। समस्या का समाधान किसी एकांगी दृष्टिकोण में नहीं होता। सबसे पहले हमारी समझ सही होनी चाहिए अन्यथा समाधान नहीं होगा।

एक सेठ ने अपने माली से कहा—सुबह के चार बज गए, बगीचे में पौधों की सिंचाई करो। माली बोला—बरसात बहुत हो रही है। मालिक ने कहा—इसमें कौन-सी कठिनाई है, छाता ले जाओ और पानी सींचो।

वह नहीं समझ सका कि जब बरसात हो रही है तो फिर सिंचाई क्यों की जाए? छाता लेने की जरूरत क्या है? पर जब दृष्टिकोण में क्षमता नहीं होती समस्या का सही आकलन करने की तो समस्या तक पहुंच ही नहीं होती।

कुछ लोगों में समस्या के प्रति एक सहज दृष्टिकोण होता है, क्षमता होती है पर दृष्टिकोण विपर्यय में चला जाता है तो भी समाधान नहीं मिलता।

बरसात बहुत तेज थी। पूरा आंगन पानी से भर गया और भीतर आने की तैयारी करने लगा। मालिक ने नौकर से कहाल्सावधान रहना, पानी कमरे के

भीतर न आने पाए। वह बोलाल्आप चिन्ता न करें, दरवाजे में ताला लगा है, चाबी मेरे पास है, मेरी स्वीकृति के बिना कोई भी भीतर नहीं आ सकता

जब हमारा दृष्टिकोण सही नहीं है तो समस्या का समाधान नहीं हो सकता। महावीर को मानना पर्याप्त बात नहीं है, छोटी बात है। महावीर को जानना, उससे आगे की बात है। जो लोग मान्यता के घेरे में बैठे हैं, वे महावीर को नहीं समझ सकते। महावीर को जानना बड़ी बात है, पर वह भी अन्तिम बात नहीं है। अन्तिम बात है महावीर को जीना। जिन लोगों ने दर्शन को माना है, स्वीकृति दी है, वे दर्शन के साथ न्याय नहीं कर सकते। जब तक दर्शन को जीया नहीं जाता, तब तक उसका कोई बहुत मूल्य नहीं होता। महावीर ने स्वयं साधना का जीवन जीया था। वे किसी दर्शन को लेकर नहीं चले, किसी मान्यता को लेकर नहीं चले। साधना का जीवन जीते हुए उसमें से जो तत्त्व निकला वह महावीर का दर्शन बन गया।

सबसे बड़ी समस्या यह है कि परतंत्रता का एक चक्र चलता है दुनिया में और वह स्वतंत्र रूप से जीने नहीं देता। महावीर की प्रथम घोषणा है—“प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। किसी को किसी पर हुकूमत करने का कोई अधिकार नहीं है।” यह स्वतंत्रता का महान आदर्श भगवान महावीर ने सम्पूर्ण मानव समाज के सामने प्रस्तुत किया जो आज भी बहुत मूल्यवान बना हुआ है।

इसी प्रकार स्वतंत्रता की भी अपनी समस्या है। जहां स्वतंत्रता होगी वहां भिन्नता भी होगी, विचार-भेद होगा। आदमी यंत्र नहीं है। हर व्यक्ति अपने चिन्तन में स्वतंत्र है तो भिन्नता स्वाभाविक है। समस्या तब पैदा होती है जब स्वतंत्रता सृजन करती है भिन्नता का। और भिन्नता विरोध के लिए बनाई जाती है। इस समस्या के समाधान के लिए महावीर ने समता का दर्शन दिया। बीच में आने वाली भिन्नता स्वयं समाप्त हो जाएगी। वह हमारे लिए श्रृंगार बनेगी, बाधक नहीं। हमारी पांचो उंगलियां स्वतंत्र हैं। यदि ये पांचों एक हो जातीं तो आदमी का सारा विकास ठप्प हो जाता। आदमी का सारा विकास हो रहा है इसीलिए कि उसे दस उंगलियां प्राप्त हैं। यह विचार-भेद, चिन्तन-भेद, सम्प्रदाय-भेद महावीर के दर्शन के अनुसार कोई अस्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है। इसे कभी मिटाया भी नहीं जा सकता।

आदमी जब तक आदमी है, उसे जब तक सोचने का अधिकार है, अपने पैरों पर जब तक चलने का अधिकार है तब तक इस भिन्नता को कभी मिटाया

नहीं जा सकता। मैं तो कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि यह भिन्नता दुनिया से मिट जाए तो यह दुनिया इतनी कुरूप हो जायेगी कि इसे देखने को किसी का मन नहीं करेगा। भिन्नता होना बहुत आवश्यक है हमारे सौन्दर्य के लिए। भेद के आधार पर ही सत्यं, शिवं, सुन्दरं की परिकल्पना की जा सकती है। बगीचे में एक ही प्रकार के फूल-पौधे हों तो वे किसी को आकर्षित नहीं कर सकते। भेद कोई बुरा नहीं। वह बुरा तब बनता है जब हम निरपेक्ष बन जाते हैं। महावीर ने इस समस्या के समाधान के लिए सापेक्षता का दर्शन दिया। हर आदमी एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। न केवल आदमी बल्कि प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। हमारी विचार-तरंगें, हमारी वाणी की तरंगें, संसार की तरंगों से जुड़ी हुई हैं। आदमी कहीं से कटा हुआ नहीं है। दुनिया में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो पदार्थ को तोड़ सके, भिन्न कर सके। सारा विश्व एक श्रृंखला में जुड़ा हुआ है। इसी आधार पर आचार्य उमास्वामी ने लिखा था—‘परस्परपग्रहो जीवानाम्’, जीव का स्वभाव है एक-दूसरे का आलम्बन बनना, सहारा बनना। यह ‘स्ट्रगल फार सरवाइवल’ या ‘स्ट्रगल फॉर एक्जिस्टेंस’ वाली बात अहिंसा के क्षेत्र में मान्य नहीं हो सकती। आदमी ने अहिंसा के आधार पर विकास किया है, एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकर करने के आधार पर विकास किया है।

आज की यह विचारधारा बन गई है कि ‘या मैं या तुम’। या तो पूंजीवाद या साम्यवाद। दोनों साथ नहीं चल सकते। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इसीलिए हुई कि विरोधी विचारधारा वाले राष्ट्र भी एक साथ रह सकें, विकास कर सकें। पं० नेहरू, और डॉ० राधाकृष्णन् ने महावीर जयन्ती के अवसर पर कहा था—आज यह जो पूरा लोकतंत्र जीया जा रहा है, महावीर के आधार पर जीया जा रहा है।

वर्तमान की समस्या के समाधान के लिए हमारी दृष्टि वर्तमान पर ही न रहे, वह पीछे की ओर भी जाए। अतीत में भी हमारी समस्या के बहुत से समाधान छिपे हुए हैं। उनका साक्षात्कार करें। महावीर जन्म-जयन्ती के दिन हम भी नया जन्म लें। नया जन्म लेकर आगे बढ़ें, तभी महावीर जयन्ती मनाना सार्थक होगा और हमारा नया जन्म भी बहुत मूल्यवान बन जाएगा।

जिज्ञासितं कथितं

[युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने और प्रेक्षाध्यान पद्धति का प्रवर्तन करने के बाद महाप्रज्ञा की यह पहली गुजरात-यात्रा थी। यहां की जनता ने आपके विचारों को ध्यान से सुना, समझा और प्रेक्षा के आलोक में जीवन को देखने का प्रयत्न किया। गुजरात-यात्रा के विषय में कुछ जिज्ञासाएं साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी के मन में उभरीं और उन्होंने युवाचार्यश्री से एक साक्षात्कार लिया। उसका अविकल संकलन प्रस्तुत है।—सं०]

महान यायावर आचार्यश्री तुलसी ने एक लाख किलोमीटर से अधिक धरती को पांव-पांव चलकर माप लिया। देश के अनेक प्रान्तों की धूल आपके पुण्य चरणों का स्पर्श पाकर धन्य हो उठी। अपनी लम्बी यात्राओं के क्रम में आपने ईस्वी सन् १९५३ एवं १९६७ में अहमदाबाद में क्रमशः अल्पकालीन और चातुर्मासिककालीन प्रवास किया। सोलह वर्ष के बाद आप फिर ईस्वी सन् १९८३ में अहमदाबाद पधारे। सोलह वर्ष के इस अन्तराल में अहमदाबाद के लोक-जीवन में कितना अन्तर आया तथा इस प्रवासकाल में वहां क्या कुछ प्रभाव पड़ा ?

इस सम्बन्ध में अधिकृत जानकारी पाने के लिए मैंने युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ से बातचीत करने की इच्छा प्रकट की। मेरे प्रथम अनुरोध पर ही युवाचार्यश्री ने स्वीकृति और समय साथ-साथ दे दिया। अपराह्न में पांच बजे का समय था। मैं युवाचार्यश्री के कक्ष में पहुंचीं। वहां कुछ भाई अपनी जिज्ञासाओं और समस्याओं के बारे में समाधान पा रहे थे। मुझे देखते ही वे उठ खड़े हुए। यद्यपि मेरी चर्चा में कोई गोपन रहस्य नहीं था, फिर भी कक्ष इतना छोटा था कि उसमें अधिक व्यक्ति अच्छे ढंग से नहीं बैठ सकते थे। इसलिए काफी लोग बाहर चले गए। कुछ भाई और सन्त तथा हम तीन साध्वियां और युवाचार्यश्री— बस इतने ही साक्ष्य थे हमारी उस वार्ता के। औपचारिक बातचीत के लिए थोड़ा भी अवकाश नहीं था, इसलिए मैंने बिना किसी भूमिका के अपना पहला प्रश्न प्रस्तुत कर दिया।

— युवाचार्यपद का गरिमापूर्ण दायित्व ओढ़ने के बाद आप पहली बार गुजरात आए हैं, अहमदाबाद आए हैं। आप आचार्यप्रवर के साथ-साथ यहाँ आए हैं, इसलिए यह आपकी स्वतंत्र यात्रा नहीं है। फिर भी आपकी सोच आचार्यश्री के चिन्तन-बिन्दु से भिन्न नहीं हो सकती। इस दृष्टि से मैं जानना चाहती हूँ कि अहमदाबाद-यात्रा का उद्देश्य क्या है ?

“यात्रा हमारा जीवन-व्रत है। जो जीवन का अंग बन जाए, उसका कोई अतिरिक्त उद्देश्य नहीं होता। पर हमारी अहमदाबाद-यात्रा का निश्चित ही कोई उद्देश्य है। उस उद्देश्य की पृष्ठभूमि पर विचार करता हूँ जो गुजरात की आध्यात्मिक धरती मेरे सामने आ जाती है। इस उर्वरा भूमि में अध्यात्म के बीज सहज रूप से अंकुरित और पल्लवित हो जाते हैं। यहाँ का प्रबुद्ध वर्ग धर्म और अध्यात्म के प्रति नैसर्गिक निष्ठा से प्रणत है। उसके मन में जिज्ञासाएं हैं और आशाएं हैं कुछ करने की। गुजरात की इस पुण्य धरती से अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान जन-जन तक पहुँचे तथा इनके द्वारा सामाजिक और मानसिक समस्याओं को समाधान मिले, यही एकमात्र उद्देश्य हो सकता है मेरी जानकारी के अनुसार अहमदाबाद आने का।”

युवाचार्यश्री के उन शब्दों की प्रतिध्वनि कक्ष की दीवारों से टकराकर मेरे कानों तक पहुँची। उससे कक्ष की खामोशी में जो सरसराहट पैदा हुई, एक नये प्रश्न ने आकृति धारण कर ली। उस आकृति का अनावरण करते हुए मैंने पूछा:

— आप अहमदाबाद से अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान को जन-जन तक पहुँचाना चाहते हैं तथा सामाजिक और मानसिक समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं। इस दृष्टि से अहमदाबाद में दो मास का प्रवास काफी प्रभावी प्रतीत हो रहा है। यदि आपको यह काम आगे बढ़ाना है तो आप यहां चातुर्मासिक प्रवास क्यों नहीं कर लेते ?

“यह सही है कि यहाँ की जनता में प्रेक्षाध्यान के प्रति आकर्षण है। यह भी सही है कि हम इस क्रम को आगे बढ़ाना चाहते हैं और यह भी सही है कि यहां चातुर्मास करने से काम में काफी गति आ सकती है। यदि आचार्यवर पहले से बालोतरा-चातुर्मास के लिए वचनबद्ध नहीं होते तो शायद यहां चातुर्मासिक प्रवास के लिए सोचना ही पड़ता...”

युवाचार्यश्री अपनी बात पूरी करें, उससे पहले ही मैंने अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा—“मेरा मतलब आचार्यश्री के चातुर्मास से नहीं है। क्योंकि

प्रेक्षाध्यान की दृष्टि से आपकी उपस्थिति को लक्षित कर मैंने उपर्युक्त प्रश्न किया था।”

मेरी इस टिप्पणी पर एक क्षण मुस्कराते हुए युवाचार्यश्री ने अपनी राय प्रकट करते हुए कहा—“जब आचार्यश्री बालोतरा जा रहे हैं तब मैं भी वहां जाना चाहता हूँ और आचार्यश्री के साथ ही रहना चाहता हूँ। यद्यपि आचार्यवर ने मुझे कहा था कि तुम यहां रहो, हम यों ही काम चला लेंगे। पर मैंने निवेदन कर दिया कि आप तो मेरे बिना काम चला लेंगे किन्तु मैं आपके बिना काम नहीं चला सकता।”

कितना सहज और निरभिमानीता का विचार। एक क्षण तो मैं देखती ही रह गई और इस बात को भूल गई कि मुझे कुछ और भी पूछना है। ज्यों ही मैं सचेत हुई, चालू क्रम की श्रृंखला में एक और प्रश्न जोड़कर मैंने पूछा:

—आप आचार्यवर के साथ जाना चाहते हैं या रहना चाहते हैं, यह तो व्यक्तिगत स्वार्थ की बात हुई। यहां आपकी जो उपयोगिता है, क्या वह उस व्यक्तिगत स्वार्थ से बड़ी नहीं है?

अपने दर्शन केन्द्र पर हाथ का हल्का-सा दबाव डालते हुए युवाचार्यश्री ने मेरी जिज्ञासा के समाधान में कहा—“क्या व्यक्तिगत स्वार्थ की उपयोगिता नहीं है? अहमदाबाद में उपयोगिता की बात भविष्य के गर्भ में है। उपयोगिता के प्रकट होने पर क्या हमें यात्रा के लिए नहीं सोचना पड़ेगा? मेरी इच्छा की बात तो यही है कि मुझे आचार्यवर का सान्निध्य मिले। आदेश की बात मैं नहीं कह रहा हूँ। यदि आचार्यश्री आदेश दें तो मुझे कहीं भी रहना पड़ सकता है। किन्तु जहां तक मैं समझता हूँ, आचार्यश्री मेरी इस इच्छा का मूल्यांकन करेंगे।”

अपने आचार्य की इच्छाशक्ति अपनी इच्छाशक्ति से जुड़ी होने का विश्वास उसी व्यक्ति को हो सकता है जो अपना सब कुछ निछावर कर एकमात्र अपने गुरु का होकर रह जाता है। युवाचार्यश्री आचार्यश्री के प्रति नेचुरली और लॉजिकली—दोनों ही दृष्टियों से समर्पित हैं, इसलिए वे बिना झिझक कह गए कि “आचार्यवर मेरी इच्छा का मूल्यांकन करेंगे।” उस चर्चा के बीच मैंने युवाचार्यश्री का ध्यान उस बात की ओर खींचना चाहा जिसकी निष्पत्ति जानने के लिए हमारे मन में ललक थी। उक्त संदर्भ को किसी साहित्यिक परिवेश में उलझाए बिना ही मैंने पूछा:

—आपने अहमदाबाद नगर प्रवेश के दिन प्रथम प्रवचन में कहा था कि

यहां से किसी नयी धारा का सूत्रपात होने वाला है। वह नयी धारा कौन-सी है? क्या उसका सूत्रपात हो गया?

“प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान, शिक्षा के क्षेत्र में अनिवार्य आयाम बने, इस अपेक्षा का अनुभव उन लोगों ने किया है, जो शिक्षा के क्षेत्र में काम करते हैं। यहां विश्वविद्यालय के शिविर में यह स्वर पूरी प्रखरता के साथ बुलन्द हुआ कि शैक्षणिक जगत में जीवन-विज्ञान एक नया प्रयोग और नयी धारा है।

“इसी क्रम में अहिंसा सार्वभौम और अहिंसा यात्रा का उपक्रम है। हिंसा और शस्त्रीकरण से उत्पन्न समस्याओं के सन्दर्भ में अहिंसक समाज-संरचना की दिशा में यह एक नया अध्याय बनेगा तथा हिंसक समस्याओं के समाधान में नयी दिशा देगा, ऐसा मेरा विश्वास है।”

—अहिंसा सार्वभौम क्या है? इसके द्वारा आप क्या करना चाहते हैं?

“अहिंसा सार्वभौम तो अहिंसक समाज-संरचना की दिशा में एक नया दर्शन है। अहिंसा की रट बहुत चलती है पर विशेषतः उसके प्रशिक्षण का कोई क्रम नहीं है। यत्र-तत्र थोड़ा बहुत चलता भी है तो उसकी जानकारी नहीं मिलती। न कहीं अहिंसा के सम्बन्ध में विशेष प्रयोग हो रहे हैं और न कहीं उस पर अनुसन्धान या गवेषण की चर्चा ही है। इसलिए अहिंसा का कोई अनुसन्धान, प्रयोग और प्रशिक्षणात्मक कार्यक्रम चले, जिससे कि वह शक्तिशाली होकर लोक-जीवन को त्राण दे सके। यह अहिंसा सार्वभौम के नये दर्शन का प्राथमिक बिन्दु है। उसका दर्शन प्रयोग में से फलित होना चाहिए, केवल सैद्धान्तिक चर्चा से नहीं। इसी अर्थ में वह जीवन-दर्शन बन सकता है।”

—अहिंसा सार्वभौम का दर्शन पक्ष इतना स्पष्ट नहीं हुआ है। कृपा कर आप कोई उदाहरण देकर समझाएं।

“वह दर्शन मूल्यवान होता है, जिसे जीवन के रूप में प्रतिष्ठा मिल जाए। मार्क्स का दर्शन प्रयोग और प्रशिक्षण की प्रक्रिया से गुजरकर जनजीवन में प्रतिष्ठित हुआ और शक्तिशाली हो गया। मार्क्स का वह प्रयोग एक प्रकार से आर्थिक व्यरस्था के समीकरण का ही प्रयोग था। अहिंसा का दर्शन आज जनमानस में प्रतिष्ठित नहीं है, उसका कारण यही है कि वह प्रयोग और प्रशिक्षण से जुड़ नहीं पाया। अहिंसा के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए जा सकते हैं। जैसे कि उन में एक प्रयोग है हिंसा के अल्पीकरण का। अनावश्यक हिंसा को रोकने के लिए सामूहिक प्रयोग किया जा सकता है। अहिंसा यात्रा उसी श्रृंखला की एक कड़ी है।”

—प्रेक्षाध्यान और जीवनविज्ञान में क्या अन्तर है ?

“प्रेक्षाध्यान का शैक्षणिक जगत् में जो प्रयोग किया गया है, वह जीवन-विज्ञान है। विद्यार्थी शिक्षा जगत् का मूल आधार है। विद्यार्थियों के भावात्मक परिवर्तन के लिए प्रेक्षाध्यान के कुछ विशेष प्रयोगों का चयन कर जो पद्धति स्थिर की गई है उसकी पहचान जीवनविज्ञान के नाम से हो गई। यह विशेषतः विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है।”

—अहमदाबाद में डॉक्टरों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों आदि के शिविर हो चुकने के बाद एक जिज्ञासा यह उठती है कि क्या प्रेक्षाध्यान की पद्धति अन्तिम रूप से स्थिर हो गई? अथवा उसमें अभी परिवर्तन और परिवर्द्धन की संभावना है?

“अन्तिम रूप से स्थिरता की बात कहीं होती ही नहीं। जैसे-जैसे अनुभव बढ़ते हैं, नये-नये द्वार खुलते रहते हैं। चेतना जगत् में विकास की अनन्त संभावनाएं हैं, इसलिए उसके क्षेत्र में किसी भी बात को अन्तिम नहीं कहा जा सकता। प्रतिवर्ष इसमें कुछ न कुछ नये आयाम जुड़ रहे हैं। भविष्य में भी उस योग की संभावना को नकारने का कोई कारण नहीं है।”

—अहमदाबाद में अणुव्रत-कार्य को आगे बढ़ाने की अधिक संभावना है या प्रेक्षाध्यान की?

“अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान को विभक्त नहीं किया जा सकता। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अणुव्रत को जीवनगत बनाने के लिए प्रेक्षा का प्रयोग अनिवार्य है और प्रेक्षा का प्रयोग होने से अणुव्रत का जीवन में अवतरण निश्चित है। इन दोनों की मूल आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। अहमदाबाद में प्रेक्षाध्यान का कार्य अधिक आगे बढ़ेगा तो अणुव्रत स्वयं फलित होगा और अणुव्रत-कार्य को बल मिलेगा तो प्रेक्षाध्यान की पृष्ठभूमि पुष्ट हो जाएगी।”

—प्रेक्षाध्यान के प्रयोग की निष्पत्तियों में अणुव्रत का अवतरण सहज हो जाता है तो फिर अणुव्रत-कार्य के लिए अतिरिक्त रूप से शक्ति का व्यय क्यों किया जाता है? हम अपनी शक्ति को प्रेक्षाध्यान के विस्तार में ही केन्द्रित क्यों नहीं कर लेते?

“अणुव्रत सामाजिक जीवन में होने वाले व्यवहार का प्रतिबिम्ब है और प्रेक्षाध्यान उसमें प्राण-संचय करने की प्रक्रिया है। इसलिए प्रवृत्ति में ये दोनों जरूरी हैं। जिस प्रकार दो बिन्दुओं से अलग-अलग चलने वाले राही किसी एक

ही बिन्दु पर पहुँचकर अपनी यात्रा सम्पन्न करते हैं, वैसे ही दो भिन्न दिशाओं से निकलने वाले प्रवाह एक दिशा में पहुँचकर अपने अस्तित्व को एक-दूसरे में विलीन कर देते हैं। इस दृष्टि से प्रारम्भ में दोनों प्रवृत्तियों के बल देने के लिए शक्ति को विकेन्द्रित रूप में नियोजित करना ही अच्छा है।”

— आप प्रेक्षा और अणुव्रत को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं तो क्या अब तक बने अणुव्रतियों के लिए प्रेक्षाध्यान को अनिवार्य रूप से लागू किया गया ? यदि नहीं तो उनकी वृत्तियों के बदलाव का दूसरा रास्ता क्या है ?

“राणावास चातुर्मास में अणुव्रत-प्रेक्षा शिविर’ के रूप में जो नया उपक्रम शुरु हुआ, उसका यही तो उद्देश्य था। प्रत्येक अणुव्रती के लिए प्रेक्षाध्यान के प्रयोग की अपेक्षा अब सघन रूप से महसूस की जा रही है। जब तक इस अपेक्षा को पूरा नहीं किया जाएगा, वांछित परिणामों के सामने एक प्रश्नचिन्ह लगा रहेगा।”

—हमारे यहां कभी अणुव्रत सम्मेलन होता है, कभी आदिवासियों का सम्मेलन। कभी डाक्टरों का सेमिनार होता है तो कभी प्रोफेसरो का। कभी विद्यार्थियों को लक्ष्य में रखकर अभियान चलाए जाते हैं और कभी व्यापारियों को। इस विकेन्द्रित शक्ति को सलक्ष्य किसी एक ही अभियान में खपाया जाय तो क्या विशिष्ट उपलब्धि की संभावना नहीं है ?

“इस बात से मैं पूर्णतः सहमत हूँ कि केन्द्रित कार्य अनेक नहीं होने चाहिए। परिधि में अनेक प्रवृत्तियाँ चल सकती हैं, पर केन्द्र में एक-दो बात को ही स्थान मिलना चाहिए। हमारा केन्द्रीय कार्यक्रम है अध्यात्म का विकास। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि प्रवृत्तियाँ इसी केन्द्र की परिक्रमा करती हैं। कुछ कार्य सामयिक परिस्थिति के अनुसार आवश्यक हो जाते हैं, उन्हें टाला नहीं जा सकता। मूल बात एक है कि कोई भी व्यक्ति या समूह कितनी ही प्रवृत्तियों का संचालन करे, वे प्रधान लक्ष्य से विभिन्न नहीं होनी चाहिए।”

घड़ी में साढ़े पांच बज रहे थे। युवाचार्यश्री को शायद किसी दूसरी प्रवृत्ति में संलग्न होना था। इस भाव से अवगत होने पर भी मैंने अपना अगला प्रश्न जो कि नितान्त युवाचार्यश्री के वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित था, पूछना चाहा। युवाचार्यश्री बोले, “अधिक प्रश्न हों तो कल पूछ लेना।” मैंने कहा, प्रश्न तो और भी हो सकते हैं, पर मैं दो प्रश्नों के साथ अपनी बात समाप्त कर दूंगी। युवाचार्यश्री उत्तर देने के मूड में थे, इसलिए मैंने पूछा—

—एक ओर आप ध्यान की गहराई में प्रवेश कर रहे हैं, दूसरी ओर अन्यान्य कार्यक्रमों में भी उतना ही रस लेते हैं। क्या यह आपके जीवन की विसंगति नहीं है ?

“विसंगति।” एक क्षण रुककर युवाचार्यश्री बोले—“एक भूमिका में जो विसंगति लगती है, दूसरी भूमिका में वही संगति बन जाती है। यही तो जीवन की समस्वरा है। मेरा यह अभिमत है कि प्रवृत्ति के आधार पर चेतना की पहचान नहीं हो सकती। किन्तु चेतना के विकास की भूमिका के आधार पर प्रवृत्ति और चेतना की संगति को खोजा जा सकता है। मैं ध्यान करूँ या और कुछ, अपनी चेतना को अपने आप से ओझल नहीं होने देता हूँ। इस भूमिका पर मुझे अपनी प्रवृत्तियों में किसी विसंगति की प्रतीति नहीं होती।”

—और एक अन्तिम प्रश्न—अहमदाबाद आपको कैसा लगा ?

इस प्रश्न पर युवाचार्यश्री अपने अभिव्यक्ति के झरोखे खोलकर उसमें से झाँकते हुए मानसिक प्रभाव को अनावृत करते हुए बोले—“अहमदाबाद में मिलों का धुआँ है। चिमनियाँ धुआँ उगलती रहती हैं। वायुमंडल में धुआँ है। फिर भी यह एक विचित्र योग है कि जन-मानस अच्छा है, स्वस्थ है। उसमें जिज्ञासा है, ग्रहणशीलता है और अपेक्षाकृत असाम्प्रदायिकता है। ये सब बातें मन को आकर्षित करने वाली हैं। कुल मिलाकर ऐसा लगा कि गुजरात या अहमदाबाद की धरती पर कुछ वैशिष्ट्य है।”

इस आखिरी प्रश्न का उत्तर पाकर युवाचार्यश्री के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर जब मैं उठी तो मेरे मस्तिष्क में विचारों का एक प्रवाह था—अहमदाबाद की कुछ बातें मन को आकर्षित करने वाली हैं। शायद इसीलिए युवाचार्यश्री यहाँ रुक रहे हैं। अन्यथा तो विशेष लाभ या उपयोगिता के नाम पर भी वे आचार्यवर की सन्निधि को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुए। यह आकर्षण उन्हें कितने दिन तक बांधकर रख पाएगा ?

‘हिन्दू’ शब्द की युति कहां? कैसे?

दिल्ली प्रवास १९८१ ‘में पांचजन्य’ के प्रतिनिधि आए। उनके मन में अनेक प्रश्न थे। उन्होंने युवाचार्यश्री से उनका उत्तर चाहा। प्रश्न और उत्तर ‘पांचजन्य’ के ४-१०-८१ के अंक में ‘हिन्दू को धर्म के साथ नहीं, राष्ट्र के साथ जोड़े’-शीर्षक से छपे। उसका यह संकलन है।—सं०

पांचजन्य—‘पांचजन्य’ के साथ पिछले साक्षात्कार में तथा अपने एक भाषण में आचार्यश्री तुलसी ने सुझाव दिया था कि ‘हिन्दू’ को धर्म के साथ नहीं, राष्ट्र के साथ जोड़ा जाना चाहिए। इस संदर्भ में मैं पूछना चाहूँगा कि आप हिन्दू की परिभाषा क्या मानते हैं?

युवाचार्य—हिन्दू एक राष्ट्र का नाम है। सिन्धु नदी के सीमाकरण के कारण इसका नाम हिन्दू हुआ। जैन ग्रन्थों में उल्लेख आता है कि एक जैनाचार्य ने आने शिष्य से कहा—

चलो हिन्दू देश में चलें।

‘एहि हिन्दुदेशम् बच्चामी’

दरअसल यह देश के लिए प्रयुक्त होने वाला नाम था। अब रहा धर्म का प्रश्न, तो धर्म की तीन मुख्य धाराएँ रही हैं—वैदिक, जैन और बौद्ध। वैसे प्राचीनकाल में मुख्यतः दो धाराएँ रही थीं—ब्राह्मण और श्रमण। इन दोनों की बहुत सारी शाखाएँ थीं। हिन्दू कोई धर्म नहीं था। आज बहुत कठिनाई हो गयी है। हिन्दू की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है, इसकी कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं है। जैन, बौद्ध, सिख इसमें क्यों नहीं आते हैं? इसलिए आज इस पर बल देना आवश्यक हो गया है कि इस शब्द को धर्म के साथ न जोड़ा जाए। बीच में किन्हीं कारणों, परिस्थितियों से चल पड़ा, परन्तु अब पुनर्विचार होना चाहिए।

पाँचजन्य— हिन्दू को राष्ट्र के साथ न जोड़कर धर्म के साथ जोड़े रखने में आप क्या खतरा महसूस करते हैं?

युवाचार्य— हिन्दू धर्म प्राचीन तो है नहीं। यह शब्द ही बाद का है। हमारे श्रावक पूछते हैं कि हम क्या हैं? जैन हैं कि हिन्दू है? बड़ी कठिनाई होती है।

जब जनगणना होती है तो हिन्दू, जैन, बौद्ध—सब अलग-अलग लिखाया जाता है। हम भी कहते हैं कि धर्म में जैन लिखाओ। आखिर लोग हिन्दू क्यों लिखाए? सबसे बड़ा खतरा तो यह है कि हिन्दू धर्म लिखाने से अन्य धर्म कमजोर पड़ जाते हैं। हम राष्ट्रीयता में हिन्दू लिखा सकते हैं, धर्म में नहीं। अगर सभी लोगों को हिन्दू रखना चाहते हैं तो इसे धर्म की परिधि से निकालकर राष्ट्र, संस्कृति और समाज से जोड़ना होगा। अगर 'धर्म' राष्ट्रवाचक होता तो सभी धर्म के लोग अपने को हिन्दू कहते। धर्म के साथ जोड़ने में हित कम, अहित ज्यादा हुआ है। अगर हिन्दू धर्म को वैदिक धर्म कहें तो अन्य धर्म अलग हो जाते हैं। अगर भारतीय धर्मों को हिन्दू धर्म में रखें तो इसकी नयी परिभाषा बने।

पांचजन्य—प्रसिद्ध चिन्तक डॉ० राधाकृष्णन ने हिन्दू धर्म की चर्चा की है.....

युवाचार्य—सभी चिन्तन समय पर आएँ, यह कोई जरूरी नहीं। भारतीय धर्म-मात्र को अगर हिन्दू धर्म कहें तो ईसाई, मुसलमान भी भारतीय रहेंगे। लेकिन उससे अलग करके देखें तो सब अलग-अलग हो जाते हैं। अधिकांश लोग वैदिक धर्म को ही हिन्दू धर्म के मानते हैं। जैन, बौद्धों को इसमें लाते ही नहीं, उन्हें अलग कर देते हैं। हिन्दू धर्म माने वैदिक धर्म।

पांचजन्य—हिन्दू धर्म के अन्तर्गत तो सभी आते हैं—

युवाचार्य—कैसे हुआ, कब हुआ, किसने किया? यह बस चल पड़ा है। कोई सुनियोजित शब्द नहीं है। शब्दों का एक जाल-सा है। धर्म तो अपनी-अपनी परम्परा से है। अब आवश्यक है कि हिन्दू शब्द को व्यापक बनाया जाए। हिन्दुस्तान तो व्यापक शब्द है। सब कोई आने को हिन्दुस्तानी कहते हैं, कोई संकोच नहीं करते। हिन्दू की परिभाषा को अगर व्यापक रूप दे दिया जाए तो लोग आने आपको हिन्दू कहेंगे ही।

पांचजन्य—हिन्दू कहते ही प्रतिपक्ष मुसलमान क्यों खड़ा हो जाता है? बौद्ध, जैन, सिख क्यों नहीं? युवाचार्य जब हिन्दू लाँ आया था तब जैनों ने साफ कहा था कि हम हिन्दू नहीं हैं, हम पर लागू नहीं होना चाहिए।

आज सिक्ख क्यों अपने आपको हिन्दू नहीं मान रहे हैं, जबकि मुसलमानों से ज्यादा संघर्ष सिक्खों ने ही किया था। फिर आज क्या हो गया? यह धर्म के कारण ही हुआ है।

पांचजन्य—लेकिन सिक्खों के गुरु गोविन्द सिंह ने अपने को हिन्दू कहा था। और उसी के लिए सतत कार्य किया।

युवाचार्य—उस समय की स्थिति दूसरी थी । उस समय मुसलमान और हिन्दू आमने-सामने थे । मगर आज का सिक्ख क्या कहता है ?

'हिन्दू' शब्द से ही अगर जैन, बौद्ध और सिक्ख अलग हो जाते हैं, इसके कोई कारण तो हैं । कारण इसका बस एक ही है कि हिन्दू को धर्म के साथ जोड़ दिया गया और हिन्दू धर्म को वैदिक धर्म मान लिया गया । कोई भी हिन्दू धर्म की व्याख्या करता है तो वह गीता, रामायण, वेद, उपनिषद् तक ही स्थिर हो जाता है ।

पांचजन्य—हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अगर सबको ले लिया जाए—वेद, गीता, उपनिषद्, धम्मपद, आचारांग सूत्र, गुरुग्रन्थ साहिब तो क्या आप हिन्दू कहलाना स्वीकार करेंगे ?

युवाचार्य—शास्त्रीय दृष्टि से अर्थ का विस्तार भी होता है और अर्थ का संकोच भी होता है । अगर इसको अर्थ-विस्तार दिया जाए और सभी भारतीय धर्मों को सम्मिलित करके हिन्दू धर्म को मान्यता दी जाए तो बहुत भला होगा । हिन्दू धर्म की स्पष्ट परिभाषा तय की जाए । सभी धर्मों के प्रमुख विद्वान बैठें तथा मिलकर सहमत करें तो इस सभस्या का एक हद तक समाधान मिल सकता है ।

पांचजन्य—हिन्दू धर्म न रहकर राष्ट्र या संस्कृति ही होती तो क्या आज की स्थिति उस समय नहीं होती ? जिनकी निष्ठा बाहर के मुल्कों से है, जो समय-समय पर देखा गया है और आज भी स्पष्टतः देखा जा रहा है, क्या इस इतिहास की पुनरावृत्ति उस समय नहीं होती ?

युवाचार्य—जहां तक निष्ठा वाली बात है यह आरोप सब पर लागू नहीं हो सकता । कुछ ही लोग ऐसे हैं । ऐसे भी बहुत सारे मुसलमान और ईसाई हैं जो राष्ट्र को समर्पित हैं और ऐसे बहुत सारे हिन्दू हैं जो यद्दकाल में दूसरे देशों के लिए जासूसी करते हैं । शत्रुओं के प्रलोभन में आ जाते हैं । ये तो हर जाति में होता आया है, परन्तु सब ऐसे नहीं होते ।

पांचजन्य—हिन्दू संस्कृति की भी बात जब आती है तो इसमें सभी सम्प्रदाय के लोग आ जाते हैं जब कि मुसलमान इसे स्वीकार नहीं करते ।

युवाचार्य—स्वीकार तो इसलिए नहीं करते कि हिन्दू का अर्थ ही संकुचित हो गया है । अगर यह राष्ट्रीयतापरक होता तो इसे स्वीकार करते ।

पांचजन्य—मुसलमान तो अपने को भारतीय कहने में भी संकोच का अनुभव करते हैं । वे राष्ट्रीय गीत का बहिष्कार करते हैं । पिछले साल मुरादाबाद में पन्द्रह अगस्त के दिन मुसलमानों ने काला झण्डा फहराया....

युवाचार्य—मैंने पहले ही कहा है कि कट्टर लोग कहां नहीं होते ।

पांचजन्य—अन्य मुसलमानों ने इसका विरोध भी तो नहीं किया । यह मामूली सवाल तो है नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र की अस्मिता का सवाल है ।

युवाचार्य—तमिलनाडु में भी तो ऐसी ही घटनाएं हुई थी...

पांचजन्य—परन्तु उनकी निष्ठा...

युवाचार्य—निष्ठा का सवाल बहुत जटिल हो गया है । तमिलनाडु को अलग करने की मांग क्या थी ? हिन्दुस्तान के प्रति निष्ठा है क्या ? खालिस्तान को अलग करने की मांग क्या है ? इस मांग का मतलब ही यही है कि उनकी निष्ठा यहां से नहीं है ।

देश का कानून और संविधान भी सबके लिए समान नहीं हैं । मुसलमान तो पांच शादियां कर सकता है परन्तु और कोई नहीं—ऐसा क्यों ? परिवार-नियोजन के साथ भी यही बात है । सही माने में इन परम्पराओं को धर्म की दृष्टि से नहीं बल्कि राष्ट्रीय दृष्टि से देखा जाए । इसके खिलाफ कहीं से कोई आवाज भी तो नहीं उठ रही है ।

पांचजन्य—यह तो धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है...

युवाचार्य—लेकिन धर्म लोग कहते किसको हैं ? राष्ट्रीय दृष्टि से कानून और चिन्तन एक हो । सबके पीछे तो राजनीति काम कर रही है ।

पांचजन्य—इसका साफ मतलब है कि धर्मनिरपेक्षता से हिन्दुस्तान को खतरा बढ़ता जा रहा है ।

युवाचार्य—मैं तो मानता हूँ कि यह शब्द भी खतरनाक है, भ्रामक है । इससे बड़ा नुकसान हुआ है । डॉ० संपूर्णानन्द जैसे विद्वान की इससे असहमति थी, वे इसे बदलने के पक्ष में थे । मजहब निरपेक्ष हो सकता है, धर्म नहीं ।

पांचजन्य—मजहब और धर्म में क्या फर्क है ?

युवाचार्य—मजहब तो सम्प्रदायवाचक है । धर्म व्यापक है । सम्प्रदाय से निरपेक्ष हुआ जा सकता है, धर्म से नहीं । सम्प्रदाय अपनी कुछ खास मान्यताओं को लेकर चलता है, वह देश-काल की परिधि में सीमित रहता है परन्तु धर्म तो सार्वभौम है, उसे आप न बांध सकते हैं, न बांट सकते हैं ।

हिन्दू शब्द के आसपास जटिलताएं बढ़ती जा रही हैं । यह अस्पष्ट वातावरण का निर्माण कर रही है जिसका न कोई अर्थ है, न अवधारणा । सब उलझता जा रहा है । अगर पूरे समाज का स्वरूप राष्ट्रव्यापी होता तो यहां के मुसलमान भी

अपने को यहां का सच्चा नागरिक मानते, मुस्लिम शासक भी तो आखिर इस देश को अपना मानते थे। पांचजन्य—अगर अपना मानते तो लूट-खसोटकर नहीं जाते और न नृशंसता का व्यवहार करते।

युवाचार्य—लूटने की बात अलग है। लूटने वाले तो लूटने के उद्देश्य से आए और चले गए। शासन करने वाले लम्बी अवधि तक बने रहे। उनके सामने एक ऐसी स्थिति बन गई थी कि मुसलमान से इतर सभी हिन्दू हैं। उस समय हिन्दू और मुसलमान दो ही कौमें थीं।

पांचजन्य—इन समस्याओं से छुटकारा कैसे पाया जा सकता है ?

युवाचार्य—सामूहिक विचार-विमर्श तथा चिन्तन की जरूरत है। आम सहमति से ही इसका समाधान खोजा जा सकता है। लक्ष्य एक हो तथा सबकी उसके साथ प्रतिबद्धता हो।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० राजा रमन्ना और अनेकान्त दर्शन

[देश के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं प्रतिरक्षा विभाग के वैज्ञानिक सलाहकार डॉ० राजा रमन्ना आचार्यश्री से मिलने अणुव्रत विहार आए। आचार्यश्री का अभिवादन कर वे बैठ गए। आचार्यवर ने उनको जैन-दर्शन संबंधी सामान्य जानकारी दी। योग और प्रेक्षा ध्यान के संबंध में वे कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करें, इस दृष्टि से आचार्यश्री ने युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ को निर्देश दिया। वे युवाचार्यश्री के पास पहुंचे।—संपादक]

डॉ० रमन्ना—“मुनिश्री। मैं जैन लॉजिक के बारे में समझना चाहता हूँ। अब तक ऐसा अवसर नहीं मिला। आज मेरी चिर-पालित अभिलाषा पूरी होने का समय उपस्थित हो गया है। आप मुझे सबसे पहले अनेकांत के बारे में कुछ बताइए।”

युवाचार्यश्री—“अनेकांत दृष्टि है। इसके द्वारा समूचे पदार्थ जगत् या विश्व को जाना जा सकता है। संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब अनन्त विरोधी-युगलों के पिंड हैं। एक विरोधी-युगल नहीं, अनन्त विरोधी-युगल प्रत्येक वस्तु में हैं। जसमें अनन्त-विरोधी-युगलों की सत्ता नहीं है, वह वस्तु ही नहीं हो सकती। सामान्यतः किसी भी वस्तु की विरोधी पर्याय सामने आती है, उसे असत्य मान लिया जाता है। उलझन का प्रारम्भ यहीं से होता है। भगवान महावीर ने विरोधी धर्मों वाली वस्तु को देखकर असत्य नहीं कहा, उसकी प्रकृति को समझा। महावीर जैसा व्यक्तित्व एक सार्वभौम नियम को असत्य ठहरा ही कैसे सकता था ?

यहाँ दर्शन की धारा बदलती है। कुछ दार्शनिक विरोधी धर्मों को अपनी सहमति नहीं दे सके। उन्हें जहां-जहां विरोध की प्रतीति हुई, उसे छोड़ते चले गए और अविरोध को स्वीकारते चले गए। विरोधी धाराओं में भी एक बिन्दु ऐसा होता है जहाँ भिन्न दिशाओं से बहकर आने वाली धाराएं मिल जाती है। उस

मिलन के बिन्दु को उन लोगों ने मान्य कर लिया, पर समग्रता से उसे नहीं पकड़ पाए। यहीं से एकांगी दृष्टि का निर्माण शुरु हो गया।

भगवान महावीर की यह मौलिक प्ररूपणा है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त विरोधी-युगल टिके रह सकते हैं। जब वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और उसमें विरोधी युगलों की सत्ता स्वाभाविक मान ली गई तब प्रश्न यह उठता है कि उन विरोधी धर्मों का सहावस्थान कैसे हो सकता है? सर्दी और गर्मी, अग्नि एवं पानी साथ-साथ कैसे रह सकते हैं? इनमें सामंजस्य स्थापित करने की क्या प्रक्रिया है?

यह एक भ्रांत धारणा है कि अविरोधी तत्त्व साथ रह सकते हैं और विरोधी तत्त्व साथ में नहीं रह सकते। वास्तविकता यह है कि अनेक विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं। विरोधी तत्त्व के बिना किसी धर्म का अस्तित्व ही नहीं टिक सकता। अस्तित्व के लिए प्रतिपक्ष होना जरूरी है।”

डॉ० रमन्ना—“प्रतिपक्ष के बिना किसी धर्म का अस्तित्व ही नहीं है, यह तो बहुत वैज्ञानिक बात है।”

युवाचार्यश्री—“जैसे आज विज्ञान में कण और प्रतिकण, मीटर और एण्टी-मीटर, परमाणु और प्रतिपरमाणु का सिद्धांत है, एक-दूसरे के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रतिपक्ष को नियामक माना जाता है, वैसे ही उत्तरवर्ती जैन आचार्यों ने ‘यत् सत् तत् सप्रतिपक्षं’ कहकर वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विरोधी धर्म की सत्ता को स्वीकार किया है।

दो विरोधी धर्म साथ में रह सकते हैं, यह एक सार्वभौम नियम है। इसके लिए दूसरा नियम है सापेक्षता का। विरोधी धर्म साथ में रहते हैं, वे इसलिए रहते हैं कि उनमें परस्पर सापेक्षता है। निरपेक्ष धर्म एक साथ रह ही नहीं सकते।”

(यह तथ्य भी डॉ० रमन्ना को बहुत वैज्ञानिक लगा। उन्होंने यहां भी अपनी ओर से टिप्पणी की)

युवाचार्यश्री—“भगवान महावीर ने सापेक्षता के लिए कम-से-कम चार दृष्टियों की अनिवार्यता बताई है। वैसे दृष्टियां अनन्त हो सकती हैं, पर कम-से-कम चार दृष्टियां तो होनी ही चाहिए—१. द्रव्यदृष्टि, २. क्षेत्रदृष्टि, ३. कालदृष्टि, ४. भावदृष्टि। हम किसी भी वस्तु पर विचार करते हैं, तो सबसे पहले द्रव्य पर विचार किया जाता है, संहति पर विचार होता है—मास एण्ड एनर्जी। द्रव्य कितना है?

और क्या है ? इस पर विचार किए बिना उसके स्वरूप का बोध नहीं हो सकता ।

द्रव्य के बाद विचारणीय बिन्दु है क्षेत्र । क्योंकि इसके बिना किसी द्रव्य पर विचार नहीं हो सकता । क्षेत्र की व्याख्या काल के बिना नहीं हो सकती । भाव वस्तु का अविच्छिन्न धर्म होता है । वस्तु परिवर्तनशील है इसलिए उसके विभिन्न पर्याय हैं, अवस्थाएं दूसरी अवस्था से सापेक्ष रहती हैं, तभी वह वस्तु का धर्म बन सकती है । इसलिए किसी भी तत्त्व को समझने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सापेक्षता आवश्यक है ।

तीसरा नियम है परिणामन का । प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य होता है । वह न तो एकान्ततः नित्य ही हो सकता है और न अनित्य ही । यह विरोधी-युगल वस्तु के मूल स्वरूप को अभिव्यक्त करता है । केवल नित्यता और केवल अनित्यता के आधार पर किसी वस्तु की व्याख्या हो नहीं सकती । क्योंकि वस्तु की त्रैकालिक सत्ता और उसमें घटित होने वाले परिवर्तन स्पष्ट हैं । जो स्पष्ट है, उसे अस्वीकृत भी कैसे किया जा सकता है ?

पदार्थ को अनित्य मानने वाले दार्शनिक परिवर्तन की बात स्वीकार करते हैं, पर केवल परिवर्तन आधार शून्य रह जाता है । उसकी कोई युक्ति-संगत व्याख्या नहीं मिलती । प्रवाह या किसी अन्य कल्पना से भी यह समस्या नहीं सुलझती । इसलिए विश्व की व्याख्या के लिए युक्ति-संगत नियम 'परिणामी नित्य' का सिद्धांत ही हो सकता है ।

परिणाम का अर्थ है बदलना या भिन्न-भिन्न होना । इस क्रम से सारा संसार भेद प्रधान हो जाता है । कुछ दार्शनिक समष्टि चेतना को स्वीकार करते हैं । उसके अनुसार जगत् के मूल में एक तत्त्व काम करता है । इस प्रश्न पर सापेक्षता की दृष्टि से विचार करें तो एक नियम बनता है भेदाभेद का—कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद । ऐसा कोई तत्त्व है ही नहीं जिसे एकान्ततः भेद-प्रधान या अभेद-प्रधान कह सकें । क्योंकि ये दोनों परस्पर विच्छिन्न नहीं हैं, कटे हुए नहीं हैं । निष्कर्ष यह है कि समूचे संसार के मूल में एक सूत्र भी है और प्रत्येक द्रव्य व्यक्तिशः भिन्न भी है ।

विश्व व्याख्या के इस चौथे नियम में भेद और अभेद दोनों सापेक्ष हैं । भेद की ओर चलते जाएं तो ठेठ परमाणु तक पहुंच हो जाएगी । वैज्ञानिक दृष्टिकोण भेद-प्रधान होता है । वह संश्लेषण की अपेक्षा विश्लेषण अधिक करता है । किन्तु

दूसरी ओर हम देखते हैं कि परमाणु बहुत उपयोगी नहीं होता। परमाणुओं का समवाय बढ़ता जाता है। स्कन्ध बनते ही उनका उपयोग शुरू हो जाता है। पौदिलक जगत् में यह भेद और अभेद का नियम बिलकुल स्पष्ट है।

जैन दर्शन में केवल पौदिलक, भौतिक या परमाणु-जगत् का अस्तित्व ही नहीं है। वह अभौतिक जगत् का भी अस्तित्व स्वीकार करता है। वहां केवल अचेतन का ही नहीं, चेतन का भी मूल्य है। चेतन से अचेतन भिन्न है। भौतिक से अभौतिक भिन्न है। भिन्नता की स्थिति में एक ही नियम के द्वारा विश्व की व्याख्या नहीं हो सकती। अथवा यह कहा जा सकता है कि विश्व भी दो अलग अलग हो जाएंगे। जबकि जगत् है एक। इस स्थिति में भेदाभेद के नियम का अपना अतिरिक्त मूल्य हो जाता है।

दूसरे दार्शनिक भी अचेतन और चेतन—इन दो तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। किन्तु अचेतन को अभौतिक स्वीकार करने वालों में सबसे पहले कदम उठाने वाला जैन-दर्शन है। तत्त्व अचेतन है, पर भौतिक नहीं, यह बात किसी समय में आश्चर्य जैसी लगती थी किन्तु आज तो यत्र-तत्र वैज्ञानिकों को भी ऐसे कण उपलब्ध हो गए हैं, जो भौतिक नहीं हैं। यद्यपि उसकी व्याख्या के साथ जैन-दर्शन की सहमति नहीं है। क्योंकि भौतिक तत्त्व की वैज्ञानिक परिभाषा है स्थूलता। पर ऐसे पुद्गल भी होते हैं जिनमें स्थूलता का लक्षण घटित नहीं होता। वे पुद्गल भारहीन हैं, अगुरुलघु हैं। ऐसे पुद्गल चतुःस्पर्शी होते हैं।

पुद्गल के अतिरिक्त भी ऐसे तत्त्व हैं, जो अचेतन हैं, पर भौतिक नहीं हैं। उनमें दो तत्त्वों की खोज विज्ञान द्वारा हो चुकी है। जहां तक इनका अस्तित्व है, गति और स्थिति वहीं तक है। आकाश तत्त्व भी अचेतन है किन्तु अभौतिक है। अभौतिक तत्त्व में संश्लेष और विश्लेष की प्रक्रिया नहीं है, संयोग और वियोग नहीं हैं।

चेतन तत्त्व अभौतिक भी है और चैतन्य-सम्पन् भी। इसलिए पुद्गल और चेतन में संबंध न हो तो न चेतन की व्याख्या हो सकती है और न अचेतन की।

द्रव्यतत्त्व और अस्तित्व—इन दो सूत्रों से चेतन और अचेतन दोनों पदार्थ जुड़े हुए हैं। इनमें भी बड़ा सूत्र है अगुरुलघुत्व। अस्तित्व अनस्तित्व में न बदले इसका नियामक तत्त्व अगुरुलघुत्व है। प्रत्येक वस्तु में एक ऐसा पर्याय काम करता है, जिससे द्रव्य या वस्तु प्रथम क्षण अपना अस्तित्व रखता है और दूसरे

क्षण उसे बनाए रखने की योग्यता प्राप्त करता है। वस्तु में यह परिणमन की क्षमता नहीं है,

अगुरुलघुत्व का नियम विश्व की स्थिति का आधार है। विश्व में जितने भी द्रव्य थे, उतने ही हैं और उतने ही रहेंगे। न नये का उत्पाद होगा, न किसी का व्यय होगा। 'यावन्तस्तावन्त का एवं' यह अगुरुलघुत्व के कारण ही है”

डॉ० रमन्ना अनेकांत के संदर्भ में विश्व-स्थिति की व्याख्या सुनने में इतने लीन हो गए कि उन्हें जैन दर्शन विज्ञान से भिन्न दिखाई नहीं दिया। अगुरुलघुत्व का नियम उन्हें बहुत वैज्ञानिक लगा। इस संबंध में उन्होंने कहा—“हम भी मानते हैं कि संसार में जो कुछ है वही रहेगा। कोई नयी चीज कभी पैदा हो ही नहीं सकती। यह नियम विश्व-स्थिति का सार्वभौम नियम है। यह अस्तित्व और अनस्तित्व का निर्णय इसी के आधार पर होता है।”

युवाचार्यश्री—“वस्तु के अस्तित्व को समझने के लिए दो बातों को समझना और जरूरी है—व्यक्त का अस्तित्व और अव्यक्त का अनस्तित्व। वस्तु की बहुत सी अव्यक्त पर्याएं वर्तमान में नहीं होतीं। वे ही जब व्यक्त हो जाती हैं तब अस्तित्व में आ जाती हैं। यह परिणमन का सिद्धांत काल-सापेक्ष ही नहीं, स्वरूप-सापेक्ष भी है। जिन द्रव्यों में अगुरुलघुत्व है, परिणमन है, वे ही वास्तव में अस्तित्वशील हैं। इनके आधार पर ही त्रिपदी का नियम बनता है। इसमें उत्पाद और व्यय दोनों साथ-साथ घटित होते हैं, फिर भी मूल अस्तित्व सुरक्षित रहता है। जिस पदार्थ का अस्तित्व ही न हो, उसमें परिणमन का प्रश्न ही नहीं उठता।

विज्ञान के नियम निश्चित नहीं होते। क्योंकि उनका निर्धारण ज्ञान जगत् के आधार पर होता है। जब भी अज्ञात ज्ञात होता है, नियम बदल जाता है। विज्ञान ने माना है कि प्रकाश की गति सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु सापेक्षता के नियम से देखें तो यह कोई अन्तिम बात नहीं है। जैन आगमों में ऐसे परमाणु और परमाणु-समवायों का उल्लेख है, जिनकी गति प्रकाश से बहुत अधिक तीव्र है।

वैज्ञानिक दृष्टि से ध्वनि की गति प्रकाश जितनी है, क्योंकि उसका वाहक प्रकाश है। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार भाषा के परमाणु एक समय (काल का सबसे छोटा भाग) में सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। ये सब नियम सापेक्षता की दृष्टि से ज्ञातव्य हैं।”

डॉ० रमन्ना—“विज्ञान के अधिकांश नियम परिवर्तनशील हैं। नया तत्त्व ज्ञात होते ही पुरानी धारणाएं बदल जाती हैं। किन्तु जब तक वह अज्ञात रहता है, उसका खंडन होता है।”

युवाचार्यश्री—“हमारे यहां सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि काम का उचित मूल्यांकन नहीं होता। प्राचीन समय में यहां इतनी खोजें हुई हैं पर उन पर शोधकर्ताओं को वैज्ञानिक नहीं कहा गया। कुछ वर्षों तक एक हिन्दुस्तानी लहर थी कि वे अपने बुजुर्गों को अल्पज्ञ मानते थे। प्राचीनकाल में ऋषि-मुनियों ने भी कुछ नयी खोजें कीं और नये तथ्य संसार के सामने रखे। पर हमारी दूसरी कठिनाई यह है कि उस समय की भाषा और परिभाषा पकड़ में नहीं आती। आज वैज्ञानिक कहते हैं कि पोजेटिव और नेगेटिव दोनों के योग से विद्युत् उत्पन्न होती है। और भी अनेक काम होते हैं। यह बात भी बहुत पुरानी है, पर पकड़ में नहीं आयी थी। जैन दर्शन में दो शब्द हैं—स्निग्ध और रुक्ष। चिकना और रूखा, ये दोनों शब्द पोजिटिव और नेगेटिव के प्रतीक हैं। बहुत पुरानी हैं यह धारणा, किन्तु इसकी वैज्ञानिक खोज इसी शताब्दी में हुई।

कार्यकारणवाद भी एक नियम है, पर यह भी सापेक्ष है। कुछ दार्शनिक कार्य और कारण का निश्चित संबंध मानते हैं। अनेकांत की दृष्टि से इस संबंध की अनिवार्यता नहीं है। सामान्यतः हर कार्य कारण की अपेक्षा रखता है, पर कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो निर्निमित्तक हैं। उपादान कारण वस्तु का स्वरूप है, इसलिए वह तो रहता ही है, निमित्त कारण जरूरी नहीं है।

इस लम्बी चर्चा में हमने जितने तथ्यों का स्पर्श किया है, प्रतिपदन किया है, वह सारा सापेक्ष प्रतिपादन है, इसलिए इसे मानकर चलने में कोई कठिनाई नहीं आती। सत्य और असत्य के साथ न तो ऐकान्तिक आग्रह होना चाहिए और न ही होना चाहिए वैचारिक संघर्ष। यह जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है। इस संबंध में और कुछ ज्ञातव्य हो तो पूछें।”

डॉ० रमन्ना इतने कोणों से अनेकांत की चर्चा सुनकर आत्मविभोर हो उठे। उन्हें अपने जीवन में पहली बार यह मौका मिला था। वे अब प्रश्न पूछकर विषय को मिश्रित करना नहीं चाहते थे। उत्पन्न संतुष्ट होकर प्रसन्न मन से वे उठे और आचार्यश्री के पास पहुंचकर बोले—“बहुत वर्षों से मेरी इच्छा थी कि मैं जैन लॉजिक के बारे में समझूं, पर अब तक कभी अवसर ही नहीं मिला। आज मैं

प्रसन्न हूँ, क्योंकि मेरी एक चिरपालिता अभिलाषा पूरी हो गई है।”

आचार्यश्री एक मधुर मुसकान बिखेरते हुए बोले—“आज मैं भी प्रसन्न हूँ। मेरा भी एक स्वप्न पूरा हुआ है। मैं चाहता था कि हमें कोई पहुंचा हुआ वैज्ञानिक मिले, जिसे जैन दर्शन और न्याय के बारे में बताया जाए, ताकि वह इसकी वैज्ञानिकता को समझ सकें। मैं मानता हूँ कि आप जैसे वैज्ञानिक ही जैन दर्शन की सूक्ष्मताओं को आत्मसात् कर सकते हैं। इससे समूचे मानव समाज का भला हो सकता है।”

विशोधन की प्रक्रिया प्रेक्षा ध्यान

चोट करना सीखें

“बदलना प्रकृति का नियम है। हर पदार्थ परिवर्तनशील है। कोई भी बहुत दिनों तक अपने मूलरूप में नहीं रहता। फिर वृत्तियाँ या स्वभाव नहीं बदल सकतीं, यह धारणा क्यों बना ली गई है। बहुत अपेक्षा है बदलने की, किन्तु किस दिशा में बदलें यह चुनाव का विषय है। सबसे अच्छी दिशा है मानसिक विकास या चैतसिक विकास की।

आदमी की यह भी एक प्रकृति है कि वह हर बात के साथ अपने अहंकार को जोड़ देता है। इस प्रवृत्ति के कारण ही वह भारयुक्त बना है।

एक बुढ़िया को यह अहं हो गया कि मुझसे ज्यादा रूई और कोई कात नहीं सकता। एक दिन उसने देखा कि रूई से लदा एक जहाज समुद्र के किनारे आकर लगा। इतनी बड़ी मात्रा में रूई को देखकर वह हैरान रह गई। मन में तत्काल ही प्रश्न उठा—इतनी रूई कौन कातेगा? बार-बार यही प्रश्न उसके मस्तिष्क में उठता—इतनी रूई कौन कातेगा? बुढ़िया विक्षिप्त हो गई। लम्बी सांस भरते हुए बस यही एक प्रश्न वह बार-बार दुहराती। घर के लौंग परेशान। डाक्टरों की चिकित्सा फेल हो गई। अन्ततः एक मनोचिकित्सक बुढ़िया का इलाज करने आया। सारी स्थिति का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। तेजी से रूई कातने वाली वह बुढ़िया समुद्र के किनारे रूई के जहाज को देखकर पागल हुई थी, यह जानकर तुरन्त उसने बीमारी पकड़ ली। बुढ़िया के पास जाकर उसके कान में उसने कहा—‘मांजी। जहाज की सारी रूई जल गई।’ ‘सारी रूई जल गई?’ यह कहकर बुढ़िया खुशी से उछल पड़ी। मन की उलझन समाप्त और बुढ़िया स्वस्थ।

प्रेक्षा ध्यान एक भावात्मक या मानसिक चिकित्सा है, और कुछ नहीं। केवल देखना और केवल जानना कि हमने अपने मस्तिष्क में कितना कुछ कबाड़ भर रखा है। जानते और देखते तो हैं किन्तु उसके साथ प्रियता या अप्रियता का भाव

जोड़ देते हैं। जानने की पवित्र धारा के साथ-साथ कषायों का गंदला पानी भी उसमें भर लिया है। प्रेक्षा ध्यान चित्त को कषायों से मुक्त कर उसे विशुद्ध बनाने की प्रक्रिया है, जीवन की शैली को बदलने की प्रक्रिया है।

जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमारा मार्गदर्शन करे, वही वास्तविक धर्म है। आदमी दुःखी बनता है, बुराई या अप्रामाणिकता में जाता है अज्ञानवश। उसमें कोई भावना पैदा होती है और वह ज्ञान की विपरीत दिशा में चला जाता है। उद्दीपनों पर हम कंट्रोल कर सकें, यह केवल कल्पना से नहीं होगा। इसका संकल्पपूर्वक नियमित अभ्यास करना होगा। कौन-सी प्रवृत्ति कहां से उभरती है और उसका नियमन कहां से होता है, यह जानना बहुत आवश्यक है। हमारे भीतर प्रकाश भी है और अन्धकार भी। अन्धकार को कहां से और कैसे मिटाएं, इसे अच्छी तरह से समझना है।

एक व्यक्ति की मोटर खराब हो गई। तमाम कोशिशों के बाद भी इंजन स्टार्ट नहीं हुआ। मेकेनिक को बुलाया। वह आया, देखा और बोला—सौ रुपये लूंगा। मजबूरीवश स्वीकार करना पड़ा। मेकेनिक ने इंजन के किसी पार्ट पर हथौड़े से चोट की और इंजन स्टार्ट हो गया। मोटर का मालिक बोला—भाई, यह तो मैं भी कर सकता था। सिर्फ एक चोट के सौ रुपये लेना कहां की ईमानदारी है। मेकेनिक बोला—श्रीमानजी। चोट करने का तो मैंने केवल एक रुपया लिया है। निन्यानबे रुपये 'चोट कहां करनी है' इस बात के लिए हैं।

हमें यह जानना है, चोट कहां करें जिससे शरीर का लड़खड़ाता इंजन सक्रिय हो जाए। दस दिन के अभ्यास से आप वीतरागी तो नहीं बनेंगे किन्तु इतना जरूर जान जाएंगे कि चोट कहां करनी है और यदि इतना जान गए तो समझिए मन शान्ति का बहुत बड़ा गुरु आप सीख गए।”

भाव परिष्कार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के एक ऐसे परिवेश में रहता है जहां हिंसा, अशांति, भय और तनाव का वातावरण है। जीवन में ये बड़ी बाधाएं और समस्याएं हैं, किन्तु जहाँ समस्या है वहां समाधान भी है। धर्म और चिकित्सा क्षेत्र पृथक-पृथक हैं। मेरी मान्यता है कि एक चिकित्सक को धर्म के विषय में जितना जानना आवश्यक है उतना ही एक धर्म-गुरु को चिकित्सा के विषय में जानकारी रखना आवश्यक है। चिकित्सा करने से पूर्व रोग के कारणों को जानना

होगा। आज का मनुष्य आधि, व्याधि, उपाधि और समाधि के चौराहे पर खड़ा है। हमारी सारी बीमारियां आती हैं भावनात्मक शरीर से, फिर वे क्रमशः आधि और व्याधि के रूप में परिलक्षित होती हैं। आधि-व्याधि से परे की स्थिति है समाधि। जीवन में समाधि का अवतरण तभी होगा जब व्यक्ति आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होगा। एक कर्मशास्त्र का वेत्ता कर्म सिद्धान्त को जानता है और आधुनिक मेडिकल साइंस इसको स्वीकार करती है। यदि दोनों की तुलनात्मक व्याख्या करें तो निष्कर्ष में कोई अन्तर अनुभव नहीं होगा। भाव का परिष्कार करना तथा अन्तःस्वावी ग्रंथियों के अन्तःस्त्राव को बदलना एक ही बात है। हमारे शरीर में ग्रंथियों का क्या कार्य है, उनका शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह बात एक डॉक्टर अच्छी तरह जानता है। किन्तु वह उसे बदलने की प्रणाली नहीं जानता। ध्यान के द्वारा अन्तःस्त्रावों को कैसे बदला जा सकता है, भाव-परिष्कार कैसे किया जा सकता है? यदि हम यह जान लें तो जीवन में बहुत कुछ परिवर्तन घटित हो सकता है। फिर किसी को यह शिकायत भी नहीं रहेगी कि जीवन में अशांति है, भय है तनाव है। इससे चारित्रिक मूल्यों की प्रतिस्थापना होगी और साथ-साथ व्यक्तिहित, समाजहित और राष्ट्रहित में बहुत बड़ा काम होगा।

आयुर्वेद और प्रेक्षा ध्यान

आयुर्वेद का विकास अध्यात्म की प्रज्ञा से हुआ है। धन्वंतरी ने अपनी अन्तःस्फुरित प्रज्ञा से ही आयुर्वेद का विकास किया था। मेरे शास्त्रीय अध्ययन में आयुर्वेद के ग्रंथों की गहरी पृष्ठभूमि है। बहुत बार शास्त्रीय रहस्यों को पकड़ने में आयुर्वेद के ग्रंथ मेरे सहयोगी बने हैं। चिकित्सा की दृष्टि से शारीरिक चिकित्सा के साथ-साथ मानसिक चिकित्सा का भी यह एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। आध्यात्मिक चिकित्सा का इसमें बहुत बड़ा भाग है। हमारी अधिकांश शारीरिक बीमारियां भावना से जुड़ी हुई हैं। अतः चिकित्साशास्त्र को कभी भी अध्यात्म से अलग नहीं किया जा सकता। बहुत बार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएं भी रूढ़ बन जाती हैं। आयुर्वेद भी उस रूढ़ता का शिकार हुआ है। आयुर्वेद ने कभी बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन किया था, पर अब उसके साथ अनुसंधान की प्रवृत्ति नहीं रही। आज बहुत सारे वैद्य भी एलोपैथिक दवाओं की पुड़िया बनाकर अपना काम निकालते हैं। ऐसे समय में प्रेक्षा ध्यान और अणुव्रत का बहुत बड़ा संबंध हो जाता है। कल एक अच्छे डॉक्टर मेरे पास आए। उन्होंने कहा—मैं एलोपैथिक

का चिकित्सक हूँ पर मुझे लगता है मेरा सारा प्रयास निरर्थक है ।

इन सारी स्थितियों के संदर्भ में कहा जा सकता है कि यदि आयुर्वेद को अपनी विस्मृत संपत्ति को पुनः प्राप्त करना है तो उसे ध्यान पद्धति से जुड़ना होगा । ध्यान उसके लिए अनुसंधान का द्वार खोलेगा । अनुसंधान के आधार पर आयुर्वेद आगे बढ़ेगा और फिर से अपनी धाक जमाएगा । इस संदर्भ में आयुर्वेद और प्रेक्षा ध्यान का समान्वित कदम उठे, यह आवश्यक है ।

यथार्थ विज्ञान : जीवन विज्ञान

आज अनेक समस्याएं हैं। वे सबके सामने स्पष्ट हैं। प्रश्न है उनके समाधान का। क्या इनका समाधान है या अनन्तकाल तक ये बनी रहेंगी? क्या हृदय का परिवर्तन किया जा सकता है? आज समस्त मानव जाति के सामने हिंसा, अपराध और आक्रमण की समस्याएं हैं। ये सबको परेशान कर रही हैं। इनसे भी बड़ी और जटिल समस्या है मानसिक तनाव की। क्या इन समस्याओं से बचा जा सकता है? आचार्यवर ने इन समस्याओं पर गंभीरता से चिन्तन किया और समाधान के रूप में अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। एक नवीन आचार और विचार प्रस्तुत किया।

आजादी के पूर्व लोगों का चिन्तन था कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद नये निर्माण होंगे। दूध-दही की नदियां बहेगी। खुशहाली और अमन-चैन होगा। स्वतंत्रता का अपना एक उन्माद होता है। परतंत्रता के बाद स्वतंत्रता मिलने पर चिन्तन ओर दृष्टिकोण में परिवर्तन आ जाता है। आजादी मिलने के बाद जो कल्पनाओं के महल खड़े थे, वे ढह गए, मोह भंग हो गया। राजनैतिक आजादी मिली, मानसिक गुलामी अपनी जगह कायम रही। आचार्यश्री ने मूल सचाई को पकड़ा। अणुव्रत की आचार-संहिता प्रस्तुत की। वह सचाई यह है कि हम लोग चाहे धर्म के क्षेत्र में हों या शिक्षा के क्षेत्र में, सिद्धान्त को जितना महत्त्व देते हैं, उतना प्रयोग को नहीं। प्रवचन, उपदेश में विश्वास करते हैं, प्रयोग में नहीं। बहुत बड़ा प्रश्न है धर्म-क्षेत्र के सामने कि इतने धर्मगुरु, धर्मोपदेशक और धर्मग्रन्थ हैं, फिर भी समाज बदल नहीं रहा है। इतनी विद्या की शाखाएं, इतने विद्यालय, इतने शिक्षक फिर भी विद्यार्थी बदल नहीं रहे हैं। इसका कारण है कौरा उपदेश। गीता का प्रवचनकार अनासक्त योग पर बहुत अच्छा बोल देता है, किन्तु स्वयं अनासक्त नहीं बनता। जैन आगमों का एक व्याख्याता अहिंसा, करुणा, मैत्री आदि पर बहुत अच्छा प्रवचन दे देता है पर अपने स्वयं के जीवन में अहिंसा, अपरिग्रह का

विकास नहीं करता। गीता में सिद्धांत के साथ-साथ अनासक्त योग के जो प्रयोग जुड़े हैं, उनका कोई आचरण नहीं करता, केवल व्याख्या करता है अर्थ बतला देता है। अहिंसा और अपरिग्रह के प्रयोग नहीं किए जाते। इस विषय पर चिन्तन करते समय आचार्यश्री के मन में यह बात आयी कि हमें कोई ऐसा मार्ग खोजना चाहिए, जिस पर चलने से हृदय-परिवर्तन हो सके। पुरानी भाषा में हृदय-परिवर्तन और आज की वैज्ञानिक भाषा में रासायनिक परिवर्तन। जब तक रासायनिक परिवर्तन नहीं होता, तब तक हजार बार पढ़ने और सुनने के बाद भी आदमी नहीं बदलेगा। मूल बात है भाव-परिवर्तन और भाव-परिवर्तन के साथ सम्बन्ध है हमारी अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों के रसायनों का। कर्म से उत्पन्न होता है भाव और भाव से उत्पन्न होते हैं रसायन। रसायन उत्पन्न करने वाले ग्लैण्ड्स में जो हारमोन्स बनते हैं, वे एक-जैसे नहीं होते, भाव के अनुसार होते हैं। जैसे हमारा आन्तरिक भाव होता है, वैसे ही रसायन उत्पन्न होते हैं और ये रसायन प्रभावित करते हैं हमारे आचार, विचार और व्यवहार को। आदमी के आचार, विचार और व्यवहार को कौन कंट्रोल कर रहा है? इस पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाए तो पता चलेगा कि नर्बस सिस्टम में जो मुख्य-मुख्य ग्लैण्डस हैं वे सब कंट्रोल करते हैं हमारे आचार, विचार और व्यवहार को। जब तक इनके बदलने की बात न की जाए तब तक संभव नहीं कि विद्यार्थी या समाज का कोई व्यक्ति बदल सके। केवल पत्तियों को पकड़ने से काम नहीं चलेगा, हमें जड़ तक पहुंचना होगा।

हमारा यह अनुभव है कि बारह वर्ष, की अवस्था तक यदि किसी विद्यार्थी के पीनियल ग्लैण्ड्स को सक्रिय रखा जा सके तो नयी पीढ़ी का निर्माण किया जा सकता है। बारह वर्ष की अवस्था के बाद पीनियल ग्लैण्ड्स निष्क्रिय होना शुरू हो जाती है। इस अवस्था तक यह ग्रन्थि उसकी आपराधिक प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखती है और इसके बाद वह अप्रभावी होती चली जाती है।

आज प्रायः सुना जाता है हर किसी से कि कथनी और करनी में असमानता बढ़ रही है, पर क्यों? हम कारण पर विचार करें तो पाएंगे कि हमारा संवेग यह सब करा रहा है। आचार्यश्री बहुत बार कहा करते हैं कि हमने कोई ठेका नहीं ले रखा है कि सारे संसार को सुधार देंगे। किन्तु हमारे पास एक उपाय है, जिसके द्वारा आदमी को बदला जा सकता है। यह कोई पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर

नहीं, अनुभव और प्रयोग सिद्ध बात है। हमने अपने पर और अनेक व्यक्तियों पर परीक्षण किया है और देखा है कि किस प्रकार व्यक्ति सन्तुलित और सामान्य बन जाता है।

आज धर्मगुरु की अपेक्षा शिक्षक पर ज्यादा जिम्मेदारी है। क्योंकि विद्यार्थी शिक्षक के नजदीक ज्यादा है। सारा दायित्व शिक्षा पर है। यदि शिक्षा के द्वारा यह भावनात्मक विकास नहीं हो सकता तो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र का क्या होगा, यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। जीवन विज्ञान के क्षेत्र में यह परिकल्पना है कि योग समवाय के द्वारा ऐसा कुछ किया जाए। शिक्षण संस्थाएं तो बहुत लम्बा समय लेती हैं। हम जिस प्रयोग की बात कर रहे हैं, वह मात्र तीस-चालीस मिनट का है। एक प्रयोग कराया जाए पांच दिन और एक दिन केवल सैद्धान्तिक बात बतलाई जाए। एक वर्ष बाद इसका सर्वेक्षण किया जाए तो निश्चय ही इसके परिणाम चौंकाने वाले होंगे।

अवचेतन मन की सुप्त शक्तियों को जागृत किया जा सकता है। हिन्दुस्तान के आदमी में काफी क्षमता है। उसकी शक्ति, सामर्थ्य और कुशलता का लोहा सारी दुनिया मानती है। किन्तु यहां का आदमी बहुत चरित्रवान होता है, यह धारणा अभी नहीं बन पायी है। हम अपने जीवन को बदलें, केवल सैद्धान्तिक तौर पर नहीं, प्रायोगिक तौर पर। जीवन विज्ञान का यह प्रयोग सामाजिक सम्बन्धों का महत्वपूर्ण प्रयोग है। इसके बिना समाज में मानवीय मूल्यों की स्थापना होना असम्भव है। भावात्मक, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की बात सधने से ही सामाजिक स्वास्थ्य सध सकता है। जीवन विज्ञान किसी धर्म-सम्प्रदाय से संबंधित नहीं है। यह मात्र विद्या की एक शाखा है। मैं चाहता हूँ कि इसका विकास शिक्षा-शाखा के रूप में होना चाहिए। बौद्धिक विकास के साथ ही भावना का विकास भी होना चाहिए। अध्यात्म, सद्भावना, सहिष्णुता, प्रेम व एकता के भाव का सन्तुलित विकास होना चाहिए।

आचार्यप्रवर ने विद्वानों की गोष्ठी में कहा था कि लोग शिक्षा-प्रणाली को गलत कहते हैं; मैं यह नहीं मानता, क्योंकि इसी शिक्षा-प्रणाली ने योग्य डॉक्टर, इंजीनियर, राजनयिक, उच्चकोटि के विद्वान एवं राष्ट्रोन्नति के लिए अनेक योग्यतम व्यक्ति दिए हैं। बौद्धिक विकास हुआ है किन्तु चरित्र-विकास की ओर हमारा ध्यान नहीं गया। बीज बोया ही नहीं गया तो फल की प्राप्ति कैसे होगी? विद्यार्थी

को अनुशासित होने की विधि तो दी ही नहीं तो उसे अनुशासनहीन कहना उचित नहीं होगा। जीवन विज्ञान के द्वारा चरित्र-निर्माण का कार्य हो सकेगा। हर अच्छे कार्य की शुरुआत गुजरात में, साबरमती के आसपास हुई है। इस ओर भी प्रयत्न करना है। भावात्मक प्रयोग के प्रोजेक्ट पर देश में कार्य हो रहा है जो मानव के लिए कल्याणकर होगा।

पांच दिन के शिविर में हमें भी अनुभव हुआ कि विद्यार्थी अनुशासित जीवन जी सकते हैं। दिशा-परिवर्तन की आवश्यकता है। मैं दिशा-परिवर्तन को एक साधन मानता हूँ। हम सब इस प्रयोग में भागीदार बनें।

संस्कार-परिष्कार के सूत्र

हर आदमी के जीवन के दो पक्ष हैं—भीतरी और बाहरी। बाहरी बहुत सपष्ट है। उसके बारे में हम जानते हैं और उसे मूल्य देते हैं। भीतरी जीवन के बारे में हमारी कोई जानकारी नहीं है, इसलिए हमारी दृष्टि में उसका मूल्य भी नहीं है। हम अपने आचरणों और व्यवहारों के बारे में सोचते हैं तो मन में सहज ही प्रश्न उठता है कि इनका प्रेरक तत्त्व कौन है? कहां है? समाधान भी हम बाहरी दुनियां में खोजते हैं और वह समाधान है परिस्थितिवाद।

परिस्थिति का हमारे जीवन में हस्तक्षेप नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु जीवन की सारी प्रेरणाएं उसी से उत्पन्न होती है, यह भी कहा जा सकता। समान परिस्थिति में असमान आचरण और व्यवहार हमें देखने को मिलता है। यह असमानता भी चिन्तन को आगे बढ़ाती है—प्रेरणा का तत्त्व केवल परिस्थिति ही नहीं है, कोई दूसरा भी है। गहरे में उतरकर जिन्होंने खोज की उन्हें पता चला कि आदमी परिस्थिति से उतना बंधा हुआ नहीं है, जितना अपनी संस्कार-श्रृंखला से बंधा हुआ है।

संस्कारों की खूंटी

ऊंटों का काफिला जा रहा था। सांझ के समय विश्राम के लिए ठहरा। पास में थी एक धर्मशाला। काफिल के मुखिया ने खूंटियां गाड़ी और ऊंटों को बांध दिया। एक खूंटी कम रह गई। मुखिया ने धर्मशाला के कर्मचारी से खूंटी मांगी। वह नहीं मिली। कर्मचारी ने कहा—‘चलो, खूंटी के बिना ही मैं ऊंट को बांध देता हूँ कर्मचारी मुखिया के साथ आया और हथोड़े से खूंटी गाड़ने का स्वांग रचा। ऊंट बैठ गया।

प्रभात का समय हुआ। खूंटियां उखड़ने लगीं। ऊंटों का काफिला आगे बढ़ने लगा। ऊंटों के चले जाने पर भी शून्य में गाड़ी खूंटी वाला ऊंट नहीं उठा। बहुत प्रयास करने पर भी वह नहीं उठा। मुखिया ने धर्मशाला के कर्मचारी को सारी स्थिति बताई। वह आया और खूंटी को उखाड़ने का स्वांग रचा। ऊंट तत्काल खड़ा हुआ और आपने काफिले में जा मिला।

मनुष्य भी संस्कार की खूटी से बंधा हुआ है। परिस्थिति उसे प्रभावित करती है पर उतनी मात्रा में जितनी मात्रा में संस्कार जमा हुआ है। फ्रायड ने चेतना के विभिन्न स्तरों का प्रतिपादन कर अन्तर्जगत की गुत्थियों को समझने का रास्ता खोल दिया है। मनोविज्ञान के माध्यम से कर्मवाद को समझना बहुत सरल हो गया है। संस्कार की व्याख्या अब सुगमता से की जा सकती है। चेतन मन के स्तर पर जो घटनाएं घटती हैं, वे प्रतिबिंब हैं। उनका बिंब इस स्थूल शरीर में नहीं हैं। इस शरीर के भीतर दो शरीर हैं—सूक्ष्म और सूक्ष्मतर। संस्कार का जन्म सूक्ष्मतर शरीर में होता है। वे भीतर ही भीतर पकते हैं। जब पककर तैयार हो जाते हैं तब वे भावतरंग का रूप लेकर हमारे मस्तिष्क और ग्रन्थितंत्र के माध्यम से प्रकट होते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। आचरण जैसा होता है वैसा ही संस्कार बन जाता है। यह एक वलय है। आचरण संस्कार को जन्म देता है और संस्कार परिपक्व होकर आचरण आचरण को प्रभावित करता है। इस स्थिति में पहले किस पर ध्यान दें, यह प्रश्न है। आचरण पर ध्यान देना पहली आवश्यकता है। मनुष्य के आचरण के प्रति होने वाली जागरूकता गलत संस्कार के बीज-वपन से उसे बचा सकती है। इसलिए अप्रमाद पर बहुत बल दिया गया। जो सतत जागरूक या अप्रमत्त रहता है वह बुरे संस्कारों का बीज नहीं बोता और पुराने संस्कारों का शोधन कर डालता है। भगवान महावीर ने कर्मवाद के क्षेत्र में कुछ नये रहस्यों का उद्घाटन किया। उन्होंने संक्रमण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। बुरे भाव या आचरण के माध्यम से जो संस्कार संचित किए उन्हें अच्छे संस्कार के रूप में बदला जा सकता है अच्छे भाव और अच्छे आचरण के द्वारा। यह संस्कार-परिवर्तन का सिद्धांत अप्रमाद का सिद्धांत है। इसका विकास होने पर ही संस्कार-परिष्कार की संभावना की जा सकती है।

आज संस्कार-परिष्कार की चर्चा बहुत है और यह बहुत अच्छी बात है। जिस दिन मनुष्य में संस्कार-परिष्कार का प्रयत्न श्लथ होता है, वह दिन मनुष्य के लिए सौभाग्य का दिन नहीं होता, विकास का दिन नहीं होता। परिष्कार की भावना और प्रयत्न ये दोनों आवश्यक हैं और वे चल भी रहे हैं। उनका संबंध परिस्थिति के साथ अधिक है, इसलिए परिवर्तन हो जाने पर भी परिष्कार नहीं हो रहा है, इसलिए परिवर्तन हो जाने पर भी परिष्कार नहीं हो रहा है, राजनैतिक और सामाजिक जीवन-प्रणालियां बदल जाती हैं, किन्तु आन्तरिकता बदले बिना

परिष्कार घटित नहीं होता । समाज के क्षितिज पर जो नये-नये विकास हुए और आयाम खुले, उनमें फिर से धुंधलका गहराने लगा । जब तक हमारा दृष्टिकोण संतुलित नहीं होगा, भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार की समस्याओं के प्रति हम जागरूक नहीं होंगे, तब तक संस्कार-परिष्कार की चर्चा सफलता के बिन्दु पर नहीं पहुंचेगी । अध्यात्म की प्रेरणा है भीतरी जगत् में प्रवेश, सूक्ष्मतर शरीर और चेतना का अनुभव । वह अनुभव इस समस्या-संकुल, समाज की सबसे बड़ी अपेक्षा है, सबसे बड़ी सचाई है । इसे स्वीकृति देकर ही संस्कार-परिष्कार की धारणा को आगे बढ़ाया जा सकता है ।

उस संघ को प्रणाम

तेरापथ का अर्थ

तेरापथ का अर्थ है—आत्मोत्सर्ग। जो व्यक्ति आत्मोत्सर्ग करना नहीं जानता, वह तेरापथ को नहीं जान सकता। जिस व्यक्ति में आत्मोत्सर्ग की क्षमता होती है, व्यक्तिगत अहं और व्यक्तिगत स्वार्थ के विसर्जन की क्षमता होती है, वही व्यक्ति वास्तव में तेरापथ का अर्थ समझ सकता है। एक विदेशी लेखक ने लिखा है—हिन्दुस्तान की एक सबसे बड़ी समस्या है—व्यक्तिगत स्वार्थवादी मनोवृत्ति। इस समस्या ने सारे राष्ट्र में भ्रष्टाचार को जन्म दिया है।

आचार्य भिक्षु ने तेरापथ का दर्शन दिया। उसमें सबसे पहली बात आत्मोत्सर्ग की कही। समर्पण और आत्मोत्सर्ग का विकास निरन्तर हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। आज तक की हमारी परम्परा में बहुत पहले से आत्मोत्सर्ग और समर्पण की बात रही है, विनम्रता और अनुशासन की बात रही है।

जिस संघ में गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पण होता है, उस संघ का नाम है—तेरापथ। साधु बनना, पांच महाव्रतों का पालन करना, पांच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना अनिवार्य बात है। किन्तु उसमें भी अनिवार्य बात है। समर्पण और अनुशासन की। आचार्य भिक्षु ने सोचा यदि संघ में संगठन और अनुशासन नहीं होगा तो महाव्रतों, समितियों और गुप्तियों का पालन भी नहीं होगा। इसीलिए उन्होंने आचार के साथ-साथ अनुशासन को भी बड़ा महत्व दिया।

तेरापथ आचार-प्रधान संघ है तो साथ-साथ अनुशासन-प्रधान संघ भी है। जितना मूल्य इसमें आचार का है, उतना ही अनुशासन का भी है। आज तक की हमारी परम्परा ने इस बात को प्रमाणित किया है कि जिस व्यक्ति ने अनुशासन को भंग किया, वह आचार में भी स्थिर नहीं रह सका। ऐसा सम्भव ही नहीं लगता। आचार और अनुशासन दो आंखों की तरह हैं। एक आँख फूट जाती है तो आदमी काना बन जाता है। आचार और अनुशासन हमारे दो हाथ और दो पैरों की तरह हैं। एक हाथ या एक पैर के टूट जाने पर आदमी टोंटा या

लगड़ा बन जाता है। हम इस बात का बराबर मूल्यांकन करते रहें। तेरापंथ धर्मसंघ के परिसर में पनपने वाला, तेरापंथ की आत्मा को समझने वाला व्यक्ति इस बात को बड़ी गहराई से स्वीकार करेगा कि अनुशासन की गरिमा बराबर बनी रहे।

आज मुझे गर्व होता है कि तेरापंथ के हर श्रावक को अपनी आनुवंशिकता और पैतृक विरासत के रूप में यह संस्कार मिल जाता है। इसलिए वह अनुशासन और संगठन को बराबर मूल्य देता चला जा रहा है। संघ और संघपति के प्रति अटूट आस्था और समर्पण तेरापंथ की प्रगति का महत्वपूर्ण केन्द्र है। आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में तेरापंथ ने अपने मौलिक सिद्धान्तों को यथावत् रखते हुए जिस प्रकार नयी-नयी दिशाओं का, नये-नये आयामों का उद्घाटन किया है, फिर वह चाहे साहित्य का क्षेत्र हो, चिन्तन का क्षेत्र हो या अध्यात्म का क्षेत्र हो, प्रत्येक क्षेत्र में जो अपने पैर आगे बढ़ाए हैं, वह एक नेतृत्व का ही सुपरिणाम है। तेरापंथ की चहुमुंखी प्रगति का आधार यही रहा है और रहेगा।

संघ की प्रणाम

उस बीज का मूल्य होता है जो पल्लवित होकर छांव दे सकता है, रस दे सकता है। उस ज्योति का मूल्य होता है जो अंधकार को प्रकाश में बदलने की क्षमता रखती है। तेरापंथ आज एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर सबको सुखद शीतल छांव दे रहा है। तेरापंथ आज एक दिव्य ज्योति के रूप में अंधकार को प्रकाश में बदल रहा है। नीरसता में सरसता का अंकुरण कर रहा है तथा अनास्था में आस्था को जगा रहा है।

अतीत की गाथाएं सुनते-सुनते काम बहरे हो जाते हैं। उसके साथ हमारा संबंध मात्र पचीस प्रतिशत होता है और पचीस प्रतिशत ही संबंध होता है हमारा अनागत या कल्पना से। किन्तु पचास प्रतिशत संबंध हमारा वर्तमान से होता है। जिसके पैर वर्तमान के धरातल पर टिकते हैं, सही अर्थों में वही अपना मूल्य स्थापित कर पाता है। जिसके पैर अतीत की ओर या अनागत की ओर चलते हैं, उसका मूल्य दुनिया में कम होता है। आचार्य भिक्षु का विचार, आचार तथा दर्शन आज भी जीवित है और इस दुनिया में जो जीवित है, जिसमें वर्तमान में सांस लेने की क्षमता है, उसी की पूजा होती है।

आचार्य भिक्षु स्वयं वर्तमान को समझने वाले थे। उन्होंने वर्तमान को जितना समझा बहुत कम लोग समझ पाते हैं। वर्तमान और विवेक दोनों से उन्होंने काम

लिया। जो व्यक्ति केवल ग्रन्थों या शास्त्रों के आधार पर चलता है, अतीत के आधार पर चलता है, उसके साथ वर्तमान का योग नहीं जुड़ पाता, गणित फेल हो जाता है।

आचार्य भिक्षु ने केवल एक पद 'आचार्य' का रखा। लोगों ने कहा—'महावीर के समय की यह परम्परा है कि संघ में सात पद होते हैं। महावीर की परम्परा आपने कैसे मिटा दी?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'सातों पदों को मैं ही देख रहा हूँ।' जब राष्ट्रपति शासन होता है तो पूरा मन्त्रिमण्डल उसमें समाहित हो जाता है। शास्त्रों की परम्परा के अनुसार यदि तेरापंथ में सात पद रख भी दिए जाते तब भी उसका रूप नहीं बन पाता। जो अनुशासन, जो संगठन, जो व्यवस्था आज तेरापंथ में है वह न केवल भारतीय समाज में बल्कि पूरे संसार के धार्मिक सम्प्रदायों में अद्वितीय मानी जा रही है। उसके पीछे है आचार्य भिक्षु का वर्तमान युग-चेतना के साथ तादात्म्य और विवेकपूर्ण दृष्टि। आचार्य भिक्षु ने कुछ घोषणाएँ कीं, कुछ ऐसे सिद्धान्त दिए जो आगमों में स्पष्ट नहीं हैं, पर उन्होंने उनको इतना विकसित किया कि आज वे वर्तमान के विचार बन रहे हैं।

तेरापंथ की विचारधारा सदैव युग के साथ चली है और हमारी मान्यता रही है कि तेरापंथ का आचार्य वह होता है जो वर्तमान युग का प्रतिनिधित्व करता है। जब आचार्य भिक्षु की जरूरत थी तब आचार्य भिक्षु जन्मे, जयाचार्य की जरूरत थी तो जयाचार्य, कालूगणी की जरूरत थी तो कालूगणी और आचार्य तुलसी की जरूरत हुई तो आचार्य तुलसी जन्मे। अगर आचार्य तुलसी आज से दो सौ वर्ष पहले जन्म लेते और जयाचार्य आज जन्म लेते तो यह विपर्यय होता, किन्तु जयाचार्य की जरूरत थी दो सौ वर्ष पहले जबकि तेरापंथ की विचारधारा को गतिमान बनाना था और आचार्य तुलसी की जरूरत है आज जब युग-चेतना के साथ अणुव्रत के माध्यम से तेरापंथ की विचारधारा को जोड़ना था।

आज के युग की अपेक्षा है—शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक समस्याओं के समाधान की। गरीबी की समस्या का समाधान धार्मिक मंच से नहीं, अपितु कृषि के विकास से होगा; किन्तु मानसिक समस्या का समाधान भौतिक जगत् के पास नहीं है। किसी वैभव की सत्ता में इतनी ताकत नहीं जो इस समस्या का समाधान दे सकें। एकमात्र आध्यात्मिक और धार्मिक मंच ही इस समस्या का समाधान दे सकते हैं। तेरापंथ ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की क्षमता अर्जित की है। अपेक्षा उसी से की जा सकती है जिसके पास शक्ति हो। स्वयं

शक्तिहीन दूसरों की समस्या का समाधान नहीं दे सकता। बुझी हुई राख कभी प्रकाश नहीं दे सकती, प्रज्वलित ज्योति ही अन्धकार को प्रकाश में बदल सकती है। तेरापंथ ने स्वयं शक्ति अर्जित की है। अनुशासन, संगठन, व्यवस्था, अहंकार और ममकार का विसर्जन, सत्यनिष्ठा और ब्रह्मचर्य—ये हमारी शक्ति के स्रोत हैं।

जो संघ अपने संयम और अनुशासन से शक्ति-सम्पन्न हो उससे मानव जाति अपेक्षा रखती है। तेरापंथ के आचार्य तुलसी ने उन अपेक्षाओं को पूरा करने का प्रयत्न किया है—अणुव्रत के माध्यम से, प्रेक्षा-ध्यान के माध्यम से, नये विचार और सृजनात्मक दृष्टिकोण के माध्यम से।

आज तक तेरापंथ की ओर से किसी भी सम्प्रदाय के विरोध में दो पंक्तियाँ भी नहीं लिखी गई हैं। सवा दो सौ वर्षों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। जिसका इतना सृजनात्मक और रचनात्मक दृष्टिकोण रहा हो, वह देने की क्षमता में आता है। इस महान शक्तिशाली दायित्व-बोध, युगबोध और युग-चेतना के साथ चलने वाले संघ को प्रणाम।

मृत्युंजयी आचार्य भिक्षु

मैं प्रणाम करता हूँ कंटालिया की उस धरती को जिसने एक महान् व्यक्ति को जन्म दिया । मैं प्रणाम करता हूँ अपनी माता साध्वी बालूजी को जिन्होंने मुझे आचार्य भिक्षु के नाम और आचार्य तुलसी के सान्निध्य से परिचय कराया । मैं प्रणाम करता हूँ अपने गुरु आचार्य तुलसी को जिन्होंने मुझे आचार्य भिक्षु की आत्मा से परिचित कराया ।

मेरी दृष्टि में जन्म का कोई मूल्य नहीं होता । मूल्य होता है मृत्यु का । आचार्य भिक्षु ने जन्म और मृत्यु को समान महत्त्व दिया । उनके जीवन और मृत्यु की दूरी केवल तेरह किलोमीटर है । अधिक नहीं । उनका जन्म-स्थल है कंटालिया और निर्वाण-स्थल है सिरियारी । दोनों की दूरी है केवल तेरह किलोमीटर । मैं आचार्य भिक्षु को जन्म से व्याख्याकार नहीं मानता, किन्तु मृत्यु का महान् सूत्रकार मानता हूँ । उन्होंने जीवन भर मृत्यु की आराधना और उपासना की । वास्तव में जन्मदिन उसी का मनाया जाता है जो मृत्यु का उपासक होता है । जो मृत्यु का उपासक नहीं होता उसका आज तक जन्मदिन मनाया भी नहीं गया और मनाया भी नहीं जाएगा ।

जन्म का सूत्र है मृत्यु और मृत्यु का सूत्र है अभय । जिस व्यक्ति ने अभय को साध लिया, उसने मृत्यु की कला को सीख लिया । जिसने मृत्यु की कला सीख ली, उसने जन्म को सफल बना डाला ।

एक शब्द में कहूँ तो आचार्य भिक्षु मृत्यु के महान् उपासक और सत्य के व्याख्याकार थे । उनका व्यक्तित्व अभय से ओत-प्रोत था । एक नहीं, अनेक घटनाएँ साक्षी हैं इस अभयमुद्रा की ।

उनका पहला निवास-स्थल था श्मशान की छतरियाँ । वे वहाँ रहे । अभय का कवच पहने हुए रहे । उल्लास ने उनका साथ दिया और वे आगे से आगे बढ़ते गए ।

पहला चातुर्मास का स्थल था—अंधेरी ओरी । लोगों ने यह स्थान इसलिए बताया कि 'सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे ।' भीखणजी केलवा गांव में आ गए । लोगों ने सोचा, निकालेंगे तो लोग बुरा कहेंगे । ऐसा काम करें कि बिना मारे ही ये मृत्युधाम पहुँच जाएं । 'अंधेरी ओरी' का स्थान ऐसा था । जहाँ जो रात को रहा वह सवेरे मरा मिला । भीखणजी वहाँ रात में रहे, पर मरे नहीं । जो मरकर अमर बन जाते हैं, वह कैसे मरें । वे कभी मरते ही नहीं । मौत का भय उन्हें नहीं लगा । लोगों ने पहले यक्ष का भय, भूत का भय दिखाया । पर वे अभय थे, किसको भय था भूत का ।

आज हम आचार्य भिक्षु को एक महान् तपस्वी, महान् मनीषी, महान् दार्शनिक, महान् द्रष्टा, महान् चेतना के धनी और रहस्यमयी व्यक्तित्व के पुंज के रूप में जानते-मानते हैं । इस चित्रण का श्रेय है श्री मज्जयाचार्य को । वे उनके महान् भक्त और व्याख्याकार थे । यदि वे नहीं होते और होकर भी अतीत का आकलन नहीं करते और आकलन करके भी यदि उसकी व्याख्या नहीं करते, संगति नहीं बिठाते तो आचार्य भिक्षु का वह अनोखा व्यक्तित्व छिपा ही रह जाता ।

वे तेरापंथ दर्शन के प्रेणता ही नहीं थे, वे हजारों-हजारों व्यक्तियों के इष्ट भी थे । उनका नाम 'मंत्ररूप' बन गया । भिक्षु—इस शब्द की संरचना या ध्वनि ऐसी है कि यह मंत्रवत् प्रभावक है । मंत्र और कुछ नहीं, शब्द-संयोजना और ध्वनि का ही तो चमत्कार है ।

आचार्य भिक्षु निरन्तर तूफानों का सामना करते रहे, निरन्तर समस्याएं आती रहीं, और वे तूफानों को चीरकर आगे बढ़ते रहे, समाधान देते रहे । तूफानों से घबराना उन्होंने सीखा ही नहीं था । जिसकी निष्ठा में तपस्या का तेज होता है, सत्य का बल होता है, वह संघर्षों में कभी नहीं घबराता । तूफान आते हैं, टकराकर बिखर जाते हैं । संघर्ष की चिनगारियां उछलती हैं, पर बुझ जाती हैं ।

जयाचार्य ने भी संघर्ष और तूफानों का जिन्दादिली से सामना किया और प्रत्येक प्रहार को हंसते-हंसते झेला ।

आचार्य तुलसी का जीवन भी संघर्षों में पला है, पुष्ट हुआ है और तेजस्वी बना है ।

तीनों समान हैं । आचार्य भिक्षु का तो यह वरदान ही है कि इस आसन पर आने वाला आचार्य भिक्षु बनकर ही बैठ सकता है, दूसरा नहीं । इस आसन पर

वही बैठ सकता है जो श्रमशील, संघर्षशील और कर्मशील हो ।

आज आचार्य भिक्षु का जन्मदिन है । आचार्य भिक्षु बनकर ही आचार्य भिक्षु का जन्मदिन मनाया जा सकता है । प्राचीन आचार्यों ने कहा है—यदि देवता की पूजा करनी है तो देवता बनकर ही करो । देवता बने बिना देवता की पूजा नहीं की जा सकती । जो कष्टों से घबराता है, संघर्ष और तुफान से भयभीत होता है, विचलित होता है वह आचार्य भिक्षु का जन्मदिन नहीं मना सकता ।

महान् पर्व संवत्सरी

संवत्सरी का महान् पर्व जैन समाज के लिए महास्नान का पर्व है। यह महाकुंभ स्नान है। यह अंतःकरण की व्याधियों और मनोकायिक बीमारियों की शुद्धि के लिए चिकित्सा-पर्व है। और स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए तथा भविष्य की प्रतिबद्धता के लिए कार्य-सिद्धि का पर्व है। इस प्रकार वह शुद्धि का पर्व है, चिकित्सा का पर्व है और सिद्धि का पर्व है।

सामाजिक संपर्कों में जीने वाले हर व्यक्ति में प्रियता और अप्रियता का भाव न आए, यह कम संभव है। प्रियता और अप्रियता का भाव आए और रागद्वेष न उभरे, यह संभव ही नहीं है। राग-द्वेष जागे और ईर्ष्या की कालिमा चित्रपट पर न जमे, यह असंभव बात है। वह कालिमा जमे और व्यक्ति को शारीरित और मानसिक दृष्टि से न सताये, यह कभी हो ही नहीं सकता। सभी शारीरिक और मानसिक बीमारीयां वहीं से उत्पन्न होती हैं।

इस पर्व का मूल्य केवल आध्यात्मिक ही नहीं, इसका चिकित्सात्मक तथा स्वास्थात्मक मूल्य भी है। यह जैन तीर्थकारों और आचार्यों का महान् अवदान है। प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य और आध्यात्मिक स्वास्थ्य को गतिशील रख सके और भविष्य में आने वाले अवरोधों को मिटा सके, इसलिए उन्होंने एक दिन का चुनाव किया और वह महान् पर्व बन गया।

यह संवत्सरी पर्व सिद्धि न करें तो वह चक्र बराबर चलता रहेगा। सबसे महत्वपूर्ण बात है प्रतिरोधात्मक शक्ति। शरीर में रोग-निरोधक क्षमता होनी चाहिए। प्रतिरोधात्मक शक्ति से ही रोग के कीटाणुओं से लड़ा जा सकता है। यदि वह नहीं होती है तो रोग का आक्रमण सहज हो जाता है।

क्षमा का अर्थ है सहिष्णुता। जब सहिष्णुता की शक्ति का विकास नहीं होता तब आदमी क्षमा करके भी क्षमा का लाभ नहीं उठा पाता। बहुत बार आदमी भ्रम को पाल लेता है, केवल शाब्दिक स्थिति में चला जाता है और अन्तर्भाव में सहिष्णुता का क्रमिक विकास तो हो नहीं पाता और उसे क्षमा का सीमाबोध भी नहीं होता।

एक रोगी डॉक्टर के पास गया। डॉक्टर ने कहा—तुम नशीली चीजों से दूर रहा करो। रोगी ने बात मान ली। वह अब लम्बी नली में सिगरेट डालकर पीने लगा। एक फुट लम्बी नली को देखकर एक व्यक्ति ने पूछा—सिगरेट पीने का यह क्या तरीका है। उसने कहा—नशीली चीजों से दूर रहने की सलाह डॉक्टर ने दी है, इसलिए मैं तम्बाकू से दूर रहता हूँ, नजदीक नहीं जाता।

बीच में एक फुट लम्बी नली है तो वह तम्बाकू से एक हाथ दूर है। किन्तु इस दूरी का अर्थ कुछ भी नहीं होता।

हमारे शब्दों की नली भी बहुत लम्बी है। हम बचने का बहुत प्रयत्न करते हैं, किन्तु जब तक भूल का शोधन नहीं हो जाता, तब तक कठिनाइयाँ बढ़ती चली जाती हैं, कम नहीं होतीं।

यह पर्व विस्मृति का पर्व है। विस्मृति बहुत बड़ा वरदान है। स्मृति जितना बड़ा वरदान है, उतना ही बड़ा वरदान है विस्मृति।

यह पर्व मनोवैज्ञानिक पर्व है। इसकी एक पूरी श्रृंखला है। प्रियता-अप्रियता का मैले जमे तो उसे पन्द्रह दिन से स्नान कर साफ कर ले। यह है पाक्षिक स्नान। उससे भी यदि ज्ञात हो जाए कि पूर्ण शुद्धि नहीं हुई है तो चातुर्मासिक स्नान करें। उससे भी कलुषता न मिटे तो दूसरी बार फिर चातुर्मासिक स्नान करे, तीसरी बार चातुर्मासिक स्नान करे। इससे भी यह अनुभार हो कि पूरी शुद्धि नहीं हुई है तो फिर वार्षिक महास्नान करे। जिसकी इस वार्षिक महास्नान से भी शुद्धि नहीं होती तब मान लेना चाहिए कि रोग असाध्य है। वह न सम्यक्दृष्टि है, न श्रावक है और न साधु है, कुछ भी नहीं।

यह पर्व चिकित्सा का एक महान् सूत्र है और सिद्धि का भी एक महान् सूत्र है।

तेरापंथ धर्मसंघ सहिष्णुता का धर्मसंघ है। सका पूरा इतिहास सहिष्णुता की घटनाओं से भरा पड़ा है। आचार्य भिक्षु महा क्षमाशील थे। मैं सोचता था आचार्यश्री जब इस दिन पर सबसे क्षमायाचना करते हैं तब इतने भाव-विभोर कैसे हो जाते हैं? कहां से सीखा इन्होंने? किन्तु जब आचार्य भिक्षु को पढ़ा तो मुझे लगा कि आचार्य तुलसी कोई नया काम नहीं कर रहे हैं। परम्परा क ही पालन कर रहे हैं, अपने आचार्यत्व को ही निभा रहे हैं, जिस आसन पर आसीन हैं, उसकी विधि का अनुसरण कर रहे हैं। आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन के अंतिम क्षणों में एक-एक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं को याद कर क्षमायाचना की

थी । उस समय उनकी ऋजुता साकार हो उठी थी । इस प्रक्रिया से उन्होंने अपनी शुद्धि कर एक आदर्श उपस्थित किया था । वह मानदंड बन गया और आचार्यश्री वैसा ही कर रहे हैं ।

सहनशीलता और क्षमा हमारे संघ का जीवातु है । वह हमारी परम्परा है । उस परम्परा से मैं भी जुड़ा हुआ हूँ । मुझे भी आचार्यवर ने उसी श्रृंखला में जोड़ दिया है । यद्यपि मैं साधु-साध्वियों के सीधे संपर्क में अभी कम हूँ । सारा भार आचार्यश्री पर है । आचार्यप्रवर अपना भी कार्य करते हैं और मेरा भी कार्य करते हैं । मुझे उन्होंने बिलकुल मुक्त रखा है । फिर भी कुछ-कुछ संपर्क रहता है । प्रियता-अप्रियता के भाव आ सकते हैं, आते हैं, आये हैं । मैं अपनी शुद्धि के लिए, अपनी चिकित्सा के लिए और सिद्धि के लिए सबसे क्षमाप्रार्थी हूँ और सबको क्षमा देता हूँ । मैं सतत यह कामना करता हूँ कि मेरे में शुद्धि, चिकित्सा और सिद्धि का भाव प्रतिदिन वृद्धिगत होता रहे और ऋजुता सदा जागृत रहे ।

आचार्य महाप्रज्ञ की प्रमुख कृतियाँ

- मन के जीते जीत
 - आभा मण्डल
 - किसने कहा मन चंचल है
 - जैन योग
 - चेतना का ऊर्ध्वारोहण
 - एकला चलो रे
 - मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि
 - अपने घर में
 - एसो पंच णमोक्कारो
 - मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता
 - समस्या को देखना सीखें
 - नया मानव : नया विश्व
 - भिक्षु विचार दर्शन
 - अहंम्
 - मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
 - समय के हस्ताक्षर
 - आमंत्रण आरोग्य को
 - महावीर की साधना का रहस्य
 - घट-घट दीप जले
 - अहिंसा तत्व दर्शन
 - अहिंसा और शान्ति
 - कर्मवाद
 - संभव है समाधान
 - मनन और मूल्यांकन
 - जैन दर्शन और अनेकान्त
 - शक्ति की साधना
 - धर्म के सूत्र
 - जैन दर्शन : मनन और मीमांसा
- आदि-आदि

